टेरता पाखी

H
818
V 442 T

H
818
V442T

टेरता पाखी

भा० सं० अ० सं० पुस्तकालय
की सादर प्रदत्त

संपादक Editor
सुदर्शन वशिष्ठ
Sudarshan Vashishth

Himachal Akademi
हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी शिमला Shimla

रजत जयन्ती प्रकाशन

Library IIAS, Shimla
H 818 V 442 T
G 5727

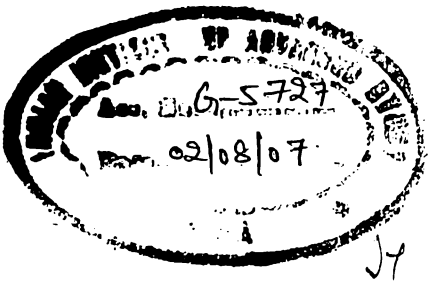

J4
818
V442T

© : हिमाचल अकादमी

ISBN–81-86756-00-

प्रकाशक : सचिव,
हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी
क्लिफ एंड एस्टेट, शिमला-171 001 (हि. प्र.)
दूरभाष–224330, 208091

प्रकाशन सहयोग : संनृत्ता

आवरण ओम सुजानपुरी

मूल्य 30.00

मुद्रक आधार ग्राफिक्स,
एस सी एफ 267, सेक्टर-16
पंचकूला-134 113

अश्क के लिए !

अनुक्रम

टेरता पाखी : एक समर्पण	९
सो गये रात जागने वाले	11
हज़रते अश्क जहां बैठ गये	43
अश्क के पत्र	51
एक रात अश्क के संग	55
अक्सर याद आते हैं उपेंद्रनाथ अश्क	59
अब नहीं आएंगे अश्क	62
मौसम के साथ बदलते अश्क	66

टेरता पाखी : एक समर्पण

अश्क जी जैसे सावुत साहित्यकार अव विरले हैं। अश्क जी पूरे के पूरे साहित्यकार थे। सिर से पांव तक। उनके जीवन का दूसरा चेहरा नहीं था। यानि वे सरकारी या गैर सरकारी नौकर, अफ़सर, उद्योगपति, राजनयिक कुछ नहीं थे। केवल साहित्यकार थे। साहित्य में रचे बसे, साहित्य में रमे हुए, साहित्य में जीते हुए।

वे कहा करते थे : ''हम लोग अंग्रेज़ों के राज में भी खुद रोटी कमाते थे। वे हमें खरीद नहीं सके। ..... आज होल-टाईम लेखक नहीं हैं। जैनेन्द्र, शिवपूजन सहाय, यशपाल, विष्णु प्रभाकर सभी होल टाईमर। इलाहाबाद में लगभग बीस लेखक जिनमें अज्ञेय, बच्चन, वर्मा, नागर .... सभी होल टाईमर। आज लेखक की हालत चिन्ताजनक है।''

होल टाईमर होने के साथ-साथ उनका साहित्य से वास्ता था, साहित्यिक बिरादरी से वास्ता था। वे सब साहित्यकारों को जानते थे। चाहे वे उनके पहले के हों, समकालीन हों या नये लेखक। अधिकांश की कवितायें उन्हें कण्ठस्थ थीं। कहानी, नाटक, उपन्यास सबको वे पढ़ते ही नहीं, विज़ुएलाईज़ करते थे। दूसरे कवियों की कवितायें वे बड़े चाव से सुनाते। साहित्य या साहित्यकारों के अलावा कोई दूसरी चर्चा करना उन्हें भाता नहीं था। .... वह आदमी बड़ा प्यारा है पर लिखना उसे नहीं आता .... वह आदमी तो बहुत घटिया है पर कविता अच्छी कर लेता है सुसरा आदि आदि। साहित्यकारों से छेड़छाड़ करना उन्हें प्रिय था। सब साहित्यकारों की वे बात करते थे— अज्ञेय से लेकर वीरेन डंगवाल, मंटो और बेदी से लेकर मोहन राकेश, धर्मवीर भारती तक, कृष्णा सोवती से लेकर मृणाल पाण्डेय तक।

जब वे किसी से मिलते तो यह ज़रूर कहते कि मैं व्यासी वरस का हो गया हूं, बीमार हूं। किन्तु बूढ़े होते हुए वे बूढ़े नहीं थे। बीमार होते हुए भी बीमार नहीं थे। बीमारी और बुढ़ापे से लड़ना उनका शौक था। बीमारी को उन्होंने बार-बार पछाड़ा और स्वस्थ और चैतन्य होकर खड़े हुए।

एक रचना को बार-बार लिखना। बार-बार लिखकर आलतू-फ़ालतू निकाल फेंकना, सुबह-दिन और रात को लिखना, दूसरे का लिखा हुआ पढ़ना और पढ़कर स्मरण रखना उनकी विशेषतायें थीं। लेखक की बेचारगी का रंज, पुस्तकों की खरीद न होना, लेखक को रायल्टी न मिलना, उचित सम्मान न होना आदि उनकी चिन्तायें रही हैं। अश्क जी का परिदृश्य बहुत विशाल था। उनकी पकड़ गहरी थी, स्मृति बहुत विलक्षण और साहित्य के प्रति समर्पण भावना अटूट थी।

किसी साहित्यकार को करीब से देखने का अवसर मिलना एक सौभाग्य की बात होती है।

यदि कुछ अंतरंग बांटने का मौका मिले तो और भी अच्छा। अश्क जी से मुलाकात, उनके करीब रहना ऐसे ही एक समागम का अवसर रहा है। साहित्य का यह टेरता पाखी अपने अंतिम समय में हिमाचल प्रदेश (धर्मशाला) में आया, अपना अंतिम उपन्यास ''धौलाधार की छाया में'' पूरा किया और पुरानी यादें ताज़ा कीं। चीलों की हवा में, देवदार की छाया में फुदकते इस टेरते पाखी के लिए ये संस्मरण समर्पित हैं।

— *सुदर्शन वशिष्ठ*

सो गये रात जागने वाले

सुदर्शन वशिष्ठ

आधी रात के बाद जब हम पहुंचे, अश्क जी जाग रहे थे। रात बहुत हो गई थी, इसलिए धीमे से चौकीदार को जगा,दबे पांव कमरे में जाना चाहा। अश्क जी के कमरे की रोशनी जगी हुई थी। उन के दरवाज़े के पास से गुज़रना था। बड़ी सावधानी के बावजूद आहट सुनते ही वे बाहर आ गए। आधी रात गुज़रने पर भी उतने ही तरोताज़ा। मैं कमरे में नहीं जा पाया और अश्क जी ने दरवाज़े पर खड़े-खड़े ही आधे घण्टे से ज़्यादा समय गुज़ार दिया। दो बज चुके थे जब उन से विदा ली। जाते हुए उन्होंने कहा कि कपड़े बदल कर आओ, बैठते हैं। मैंने उन्हें टाल दिया फिर भी सोना तीन बजे तक ही हो पाया।

अश्क जी के कमरे से दवाईयों की गन्ध आ रही थी। सारा कमरा दवाईयों से भरा था। पूरा लेखक गृह उस रात अस्पताल सा लगा। सोए-सोए दवाईयों की गन्ध आती रही जैसे कोई अस्पताल में दाखिल है और मैं उसके साथ हूँ। 'मेरी दवाईयों के लिए दो हज़ार रुपया महीना चाहिए'- वे कहा करते। बहुत बार डकार इतनी ज़ोर से लेते कि साथ के कमरों में बैठे लोग चौंक उठते। एक बार डलहौजी गए तो ठण्ड से बचाव के लिए वणीखेत रेस्ट हाउस में ठहराया। शाम को होटल में खाना खाने से उनकी तबीयत कुछ ढीली हो गई। रात भर वे डकार मारते रहे। चौकीदार घबरा गया। सुबह होते ही उसने अकादमी के सुभाष को, जो नीचे ठहरा था, बताया कि आप के पिता जी की तबीयत बहुत खराब हो गई थी। चौकीदार अश्क जी को सुभाष के पिता समझ बैठा था।

इतनी बीमारियों से घिरे रहने के बावजूद अश्क का जीवट बेहद कड़ा था। उनका मनोबल बहुत ऊँचा था। सन् 1947 में यक्ष्मा से पीड़ित होने से लेकर निरन्तर बीमारी से लड़ते रहे और उसे पछाड़ते रहे। अक्सर वे रात रात भर नहीं सोते। सुबह थोड़ी नींद लेने के बाद एकदम तरोताज़ा। उनकी बाहों में गाँठें ही गाँठें थी। अंगूठा टेढ़ा हो गया था। जिससे लिखने में तकलीफ होती। सांस की तकलीफ तो थी ही। हर बीमारी से लड़ते हुए वे ज़िंदादिली के साथ खड़े थे। लम्बा भाषण देते। कई कवियों की कविताएं सुनाते। किस्से कहानियाँ सुनाते। सरकार, अफसर, पत्रकार, लेखकों को लताड़ते। सब होते हुए भी वे जिस सक्रियता, जिस तत्परता और जिस मेहनत से लिखते थे, वह अनुकरणीय रहा है। पचासी की वय में 1996 की तीन जनवरी से अस्पताल जाने पर अभी भी लगता था कि वे एक बार फिर लड़ाई जीत कर बाहर आएंगे। घातक बीमारियां भी उनकी ज़िजीविषा और रचना-कर्म को आंच नहीं पहुंचा पाईं।

सचिव अकादमी का कार्यभार सम्भालते ही मई, 1992 में जिस साहित्यकार से साक्षात्कार हुआ, वे अश्क जी थे। अश्क जी की 'डाची' कहानी स्कूल में पढ़ी थी जो दूसरी कहानियों से

ज़्यादा देर तक मन-मस्तिष्क में छाई रही। उसके बाद कालेज में 'बड़ी-बड़ी आँखें' पढ़ने को मिली जिसके कई पहरे मुझे जुबानी याद हो गए थे। इसे मैंने कई बार पढ़ा था। 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख' जैसे उपन्यासों पर समीक्षाएं भी देखीं थीं। ऐसा लगता था, ये किसी आदिम युग के लेखक होंगे जिनकी कहानी मैट्रिक में पढ़ने को मिली। करीब आने पर जितने सहज, जितने आत्मीय लगे, उससे उनके बहुत बड़े-बूढ़े होने का भ्रम जाता रहा। जब वे जफ्फी डाल कर चलने लगे और बहुत बार ज़रूरत न होते हुए भी किसी बुजुर्ग की तरह अपना हाथ थामने का आग्रह करने लगे तो बीच की दूरी एकदम समाप्त हो गई।

सबसे पहले अश्क जी को पठानकोट रेलवे स्टेशन पर 14 मई के दिन बिस्तरबंद के ऊपर बैठा हुआ पाया। टोपी, चश्मा, शाल में एक कमज़ोर सा व्यक्ति, बयासी बसंत देखे हुए। बाहर से कमज़ोर, भीतर से पुष्ट। शरीर से बीमार, मन से स्वस्थ। पठानकोट में ही पंजाब की याद करते हुए लस्सी पीने की ज़िद्द की और बेटे नीलाभ के मना करने पर भी एक दूकान में लस्सी बनवा डाली।

धर्मशाला में अकादमी के लेखक गृह में वे अपना उपन्यास पूरा करने आए थे। वे लगभग पचपन वर्ष पहले धर्मशाला आए थे। कचहरी के पास जिस धर्मशाला में वे ठहरे थे, उसे तुरन्त पहचान गए। यहां कई लोगों को उन्होंने पहचान लिया जिन में रिटायर्ड प्रोफेसर, चौधरी रघुवीर सिंह प्रमुख थे। यह उपन्यास बृहत् उपन्यास "गिरती दीवारें" का सातवां और अंतिम खण्ड था जिसे वे पुनः धर्मशाला आकर पुरानी स्मृतियों को ताज़ा कर लिखना चाहते थे।

वे कहते- "बीमार हूँ। ऑबसेस्ड हूँ। जो चीज़ मुझे बार-बार हांट करती है, उसे लिखे बिना नहीं जा सकता। वह बार-बार अभिव्यक्ति मांगती है। जो उपन्यास मैं लिखना चाहता हूँ, उसका यह बुनियादी हिस्सा है। तीन चैप्टर मुझे धर्मशाला पर लिखने हैं....बयासी बरस हो गए। सम्भव तो नहीं लगता था। यहां आने पर लगता है, नावेल लिखा जाएगा।"

और धर्मशाला प्रवास के दौरान उन्होंने वह उपन्यास पूरा किया। नीलाभ कुछ साथ रह कर तथा खानपान, दवाईयों का समय व्यवस्थित कर वापिस चले गए। कुछ दिन पोता श्वेताभ आया, फिर नीलाभ। नीलाभ यानी गुड्डे की वे हमेशा तारीफ़ करते कि ये मेरा बड़ा ध्यान रखता है, मुझे गाइड करता है। इस तरह उन्होंने दिन रात मेहनत के बाद इसे पूरा किया। "धौलाधार की छाया में" उपन्यास 1994 में किताबघर, दिल्ली से छपा।

उपन्यास में चेतन का अपनी सास और बीमार पत्नी चन्दा के साथ मां के मना करने पर भी धर्मशाला आने, सराय में ठहरने और पत्नी को हिल डायरिया होने के कारण तुरन्त वापिस जाने की त्रासदी का चित्रण है। इस के साथ धौलाधार, सुरम्य घाटी, फोरसाइटगंज, मकलोडगंज, सराय का सजीव वर्णन उपन्यास में हुआ है। कांगड़ा के कुछ लोकगीत भी उपन्यास में फिट किए हैं जिन का हिन्दी अनुवाद भी किया गया है।

धर्मशाला प्रवास के दिनों वे लोकगीतों के हिन्दी काव्यानुवाद के साथ बच्चों के लिए कविताएं भी लिखने लगे। जिन्हें बड़े चाव से सुनाते। "मुझे लोग एक कवि के रूप में याद करेंगे देख लेना।" कविताएं सुनाते हुए वे कहते।

कविता वे ऐसे बैठे-बैठे नहीं सुनाते। बाकायदा कमरे में एक ओर खड़े होकर पूरे एक्सन के साथ कविता पाठ करते। डलहौजी में लिखी कविता "बकरोटे की ढलान पर" उन्होंने कई बार समारोहों में भी सुनाई। एक लम्बी कविता का भी वे प्रायः उल्लेख करते थे जो शायद अमरनाथ

यात्रा की थी।

जब हमारे साथ खुल गए तो कविताओं के अतिरिक्त गज़लें और गीत सुनाते। कई तरह की ''बोलियां'' निकालते और एक्टिंग करते। लड़ाई के अंदाज़ में अपनी छड़ी भांजते। एक बार डलहौजी गए तो एक जगह चाय पीने के लिए उतरने पर वे लंगड़ाकर, टेढ़े होकर चलने लगे और लड़खड़ाती ज़बान में बोलने लगे। हम डर गए कि शायद ठण्ड लग गई या कहीं पक्षाघात ही...। दूसरे ही क्षण वे सीधे हो पकौड़े गर्म करवाने लग गए।

एक ओर जहां अश्क जी सरकारी संस्थानों, प्रकाशकों, पत्रकारों, लेखकों को आड़े हाथों लेते थे, वहाँ वे-बहुत मस्त तबीयत के मनमौजी आदमी थे। उनके लेखन कार्य में विघ्न न पड़े, इसलिए संस्कृति सदन के चौकीदार को हिदायत थी कि वह किसी को असमय उन से मिलने न दे। कई लोग उनसे मिलने आते थे, कोई असमय आता तो चौकीदार मना करता। यदि अश्क जी को आहट लग जाती तो वे उस लौटे हुए आदमी को रास्ते से वापस बुला लेते और घण्टों बतियाते रहते। बहुत बार वे खुद ही जानकार लोगों के घर पहुंच जाते।

अश्क जी की यादाश्त कमाल की थी। वे खुद भी कहा करते थे कि मेरी फोटोजेनिक मेमोरी है। मैं पूरा का पूरा दृश्य वर्षों याद रख सकता हूँ। उन्हें अपने समकालीन तथा अगली पीढ़ी के कई कवियों की पूरी-पूरी कविताएं याद थीं। कहानी, उपन्यास, नाटकों के पूरे प्लाट याद थे। किस लेखक ने कब क्या किया, पूरा याद था। वैसे भी 5, खुसरो बाग रोड़, इलाहाबाद कई साहित्यिक घटनाओं का साक्षी था।

डलहौज़ी यात्रा

3 जून, 92 डलहौज़ी में भारतीय भाषा संस्थान मैसूर की ओर से भाषा विज्ञान पर कार्यशाला लगी थी। हालांकि अश्क जी का भाषा विज्ञान से कोई नाता नहीं था तथापि वे डलहौज़ी के कारण वहाँ कार्यशाला का उद्घाटन करने को तैयार हो गए। उद्घाटन हुआ, सायं डलहौज़ी के उपमण्डलाधिकारी श्री भारती के निमन्त्रण पर उनके आवास पर गए और कुछ कविताएं सुनाईं। इन में उनकी प्रिय कविता ''बकरोटे की ढलान पर'' थी जो 27 दिसंबर, 1957 में लिखी गई :

बकरोटे की इस ढलान पर
(दुर्दिन में जो किसी अभागे की किस्मत सी
सीधी ढलती चली गई है)
फटे हुए पैरों में पहने मोटे चप्पल
ओ पैबन्द लगी शलवार कमर में खोंसे,
क्षण क्षण घिरती धुंध
बरसती बूंदनियों में
यह लम्बा, यह सड़क मापता, यह भारी शहतीर उठाए,
झुके हुए तन से नब्बे का कोण बनाए
धीरे धीरे उतर रहा तू।

दूसरी कविता ''टेरता पाखी'' 7 जुलाई, 1957 को डलहौज़ी में ही लिखी गई:

टेर रहा है
घाटी में आतुर वन-पाखी
लगातार वह टेर रहा है—
एकाकी, आकुल वन-पाखी।

इन दोनों कविताओं के लिखे जाने की घटनाओं तथा वातावरण का वह प्राय: उल्लेख करते।

डलहौज़ी में लिखी अन्य कविताओं में पीला चाँद (7 अगस्त, 1957), दलदली दिन (9 सितंबर, 1957), संगतरी चांद (9 अगस्त, 1957), खिला दिन (10 सितम्बर, 1957), सितारे कूद जाएंगे (27 जून, 1960) आदि हैं।

1957 के डलहौज़ी प्रवास के विषय में वे बताते थे कि उन्हें पत्नी डलहौज़ी एक उपन्यास लिखने के लिए छोड़ गई थी। वे कविताएं ही कविताएं लिखते गए।

डलहौज़ी में हम उन्हें जी.पी.ओ. की ओर ले गए ज़हां वे 1957 में ठहरे थे। जी.पी.ओ. से काफी पहले उन्होंने सड़क के नीचे की ओर एक घर देखा जो नए होटल में तबदील हो गया था। कुछ जायज़ा लेने पर उन्होंने मना कर दिया कि यह वह नहीं है जहां मैं ठहरा था। वहां से तो पर्वतों की शृंखला नज़र आती थी और जी.पी.ओ. भी नज़दीक थी। कुछ आगे जाकर नीचे एक रास्ता उतरा जो उन्हें पहचाना सा लगा। उतरे तो उस बिल्डिंग का गेट बंद पाया। एक चौकीदारनुमा आदमी से बात करने पर कि हमें सिरफ मकान बाहर से देखना है, गेट खोला गया। एक लम्बी सी पुरानी बिल्डिंग को देख अश्क जी चहक उठे, ''यही वह बिल्डिंग है। यहीं बरामदे में मैं कुर्सी निकाल बैठता था।'' इस समय बिल्डिंग खाली थी और खण्डहर बनने जा रही थी।

पालमपुर यात्रा

5 जून, 92 को पालमपुर में एक बड़ा ''टी फेस्टीवल'' हुआ जिसका उद्घाटन तत्कालीन महामहिम राष्ट्रपति श्री आर. वेंकटरमन ने किया। यहां अश्क भी गए और उस समारोह में उन्होंने अपनी पुस्तक ''अश्क 75'' उन्हें भेंट की।

दूसरी बार कृषि कालेज पालमपुर में अकादमी की ओर से एक अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन रखा गया था, जिसकी अध्यक्षता अश्क जी ने की।

7 अगस्त को इस सम्मेलन में पहले दिन लेखक गोष्ठी थी। इसमें से.रा. यात्री, डॉ. पुष्पपाल सिंह, पंकज विष्ट, बलदेव वंशी, बल्लभ डोभाल आदि सहित हिमाचल के लेखक डॉ. सुशील कुमार फुल्ल, केशव, डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत, तुलसी रमण, जगदीश शर्मा आदि शामिल हुए।

गोष्ठी में अश्क जी ने उत्तेजनापूर्ण भाषण किया जिसमें सरकारी अफसरों, लेखकों के आड़े हाथों लिया। सायंकालीन कवि गोष्ठी में भी आए और सबसे पहले अपनी पंजाबी, हिन्दी, उर्दू में गज़लें व कविताएं सुनाईं।

धर्मशाला प्रवास के बाद अश्क जी शिमला होते हुए 24 अगस्त को वापिस लौटे। जालन्धर दूरदर्शन वाले उन पर एक फिल्म बना रहे थे। फिल्म दल शिमला आया और दो दिन तक शूटिंग हुई जिसमें अश्क जी ने मुझे जफ्फी डाल लाला लाजपतराय के बुत के पास माल रोड का चक्कर लगाया। पता नहीं यह दृश्य उस फिल्म में था या नहीं, अलबत्ता यह फिल्म जालन्धर से एक दो बार रिले हुई। आकाशवाणी शिमला में अश्क जी की एक भेंटवार्ता भी सुरेश सेठ द्वारा ली गई। जालन्धर फिल्म दल के साथ भी सुरेश सेठ आए हुए थे।

शिमला के किस्से सुनाते हुए भी अश्क जी थकते नहीं थे। सम्भवत: पहली बार वे सन् 1933 में शिमला आए थे। उस समय वे रूल्दू भट्टे में ठहरे। दूसरी बार 1934 में आए तो छोटा शिमला रहे। ''गिरती दीवारें'' का आधा हिस्सा शिमला, आधा जालन्धर लाहौर का है। इसमें शिमला के लोअर बाज़ार, [illegible] बाज़ार, माल रोड , स्कैण्डल प्वाइंट, शिव मन्दिर तथा जाखू का वर्णन है।

''बदरी'', ''हैदर'', ''वह मेरी मंगेतर थी'', ''जुदाई की शाम का गीत'' कहानियां तथा ''एक रात का नरक'' लघु उपन्यास शिमला पर आधारित है। सन् 1963-65 के बीच कसौली यात्राओं में ''खोया हुआ प्रभामण्डल'' कविता लिखी जिसके नाम का काव्य संकलन भी छपा। ये कविता इलाहाबाद में 31.1.1965 को लिखी गई।

इन सभी कहानियों के अंत अश्क जी की सभी कहानियों की तरह अप्रत्याशित हैं। अप्रत्याशित अंत यदि क्लिक कर जाए तो कहानी मार्मिक बन जाती है जैसा कि ''डाची'' में हुआ है। अलबत्ता इन कहानियों में वैसी बात नहीं बन पाई है।

शिमला के कुलियों पर लिखी कहानी में हैदर एक कश्मीरी कुली (हातो) है जो एक अंग्रेज़ युवती के आह्वान पर चार कुलियों द्वारा उतारा जाने वाला पियानो बख्शीश की चाह तथा अंग्रेज़ युवती की शह पर बिना कहीं रुके उठा कर ले चलता है। कोठी में पहुंचते ही फ़ीस मिलने पर हैदर के प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। कहानी के आरम्भ में कुलियों द्वारा सवारियों पर अपने नम्बर फेंकने का चित्रण बहुत अच्छा लगा है।

''बदरी'', में शिमला के करीब शोली गांव में कमाई के लिए शिमला आने के साथ बदरी और काशी का सूर्जू के कारण वैर और बदरी द्वारा काशी को पत्थर लुढ़का मारने की साजिश के ताने बाने में बुनी कहानी है। बदरी शिमला में खूब कमाई कर गांव लौटता है तो काशी को ज़िंदा पाता है। कहानी में लोक गीत भी दिए गए हैं।

''वह मेरी मंगेतर थी'' एक चौकीदार की कहानी है जो जवानी में सीधी मेले में अपनी मंगेतर से मिलने पर छेड़खानी के आरोप में पकड़ा जाता है। राणा के सिपाही उस की पिटाई कर कैद कर देते हैं। छूटने पर मंगेतर उसे नहीं मिलती। अंतत: लाहौर की धोबी मण्डी में मंगेतर से भेंट होती है। इस कहानी को पढ़ ऐसा लगता है कि यही आगे जाकर ''एक रात का नरक'' उपन्यास बनी।

''जुदाई की शाम का गीत'' प्रेमिका द्वारा भटके प्रेमी को पकड़ एक चट्टान से कूद जाने की कहानी कहता है जिस में एक साथ दो किस्से चलते हैं।

''एक रात का नरक'' मशोवरा में सीपी मेले में पंजाब से आए युवकों की मेला देखने की उत्कण्ठा में नायक का ''वह मेरी मंगेतर थी'' कहानी की तरह राणा के सिपाहियों द्वारा पकड़े जाने पर एक रात की कैद का वर्णन है जो एक संस्मरण की तरह लिखा गया है। इसमें हिमाचल के लोक गीत— ''छोरूआ, देवरा, मोहणा'' आदि का भी उल्लेख हुआ है।

अश्क जी बहुत मेहनती थे। एक एक पहरा, एक एक पंक्ति वे कई बार लिखते और कहते, ''जो फाइनल होता है उसमें एक एक शब्द, एक एक कोमा जानबूझ कर लिखा जाता है और उस का अपना अर्थ होता है... मैंने हिन्दी सीखी है हिन्दी बोलना सीखा है वरना ये हिन्दी वाले हमें कहां मानते थे। बड़ी मेहनत की है।'' इसी संदर्भ में वे अपनी एक कविता सुनाते:

अश्क बहुत श्रम करता है

'अश्क बहुत श्रम करता है' मटियानी बोले
'कभी गए हैं उससे मिलने
किसी समय भी : उसे मेज़ पर बैठे पाया
सदा सृजन-रत।'

'श्रम ही श्रम उसमें है प्रतिभा ज़रा नहीं है।'

'हमने तो वर्षों पहले ऐलान किया था।'
बोले परिमल के लाल बुझक्कड़, 'अश्क रहेगा
एकमात्र ऐसा लेखक दुनिया में,
जो केवल निज श्रम के बल पर,
बार-बार लिख कर, अगणित संशोधन परिवर्तन कर,
स्वतः प्रकाशित, स्वतः प्रचारित, कंद-फंद से आखिर
सिक्का अपना दुनिया भर से मनवा लेगा।'

'प्रतिभा और किसे कहते हैं?'
एक नितान्त निरीह व्यक्ति बोला पीछे से।
इधर अश्क ने जब से आना
काफ़ी-घर में छोड़ दिया है
(पहले तो वह छठे-छमाहें आ जाता था)
दो पल को महफ़िल गुलज़ार बना जाता था)
अजब बात है—
अनुपस्थित होकर भी रहता सदा उपस्थित
दसियों अफ़वाहें चुटकुले, लतीफ़े

उसको लेकर
आँखों देखी, कानों सुनी हवा में उड़तीं
बीसों बातें:
'सुना अश्क अब पहुँच रहा है राजसभा में'
'अरे सुना, पायी है उसने एक वज़ीफ़ी
(हि ही हि ही)'
'पटा लिया है, जाने उसने कैसे मन्त्री
मिलने वाली है उसको सम्मानित कुर्सी'
'सुना हो गया वह जनसंघी'
'नहीं यार वह इन्दिरा का है भक्त पुराना'
'बहुगुणा को क्यों भूले हो
है मुरीद वह बहुगुणा का
'और जगजीवन बाबू...सेना में पुस्तकों का विक्रय,'
'अरे अश्क—वह नहीं किसी का
पैसे का है अव्वल आख़िर
बहुरूपी, बहुधन्धी, बहुविध
करे न क्या-क्या इसकी ख़ातिर'
'इतना बड़ा मकान दुकान प्रकाशन
यूँ ही नहीं—'
जाने इसके पीछे है किस-किस का शोषण
यूँ ही नहीं—
'पत्नी को जो उससे अच्छा लिख सकती थी
झोंक दिया
लड़के को जो बन सकता था आला अफ़सर
झोंक दिया
'जड़ें रही हैं उसकी धुर पाताल ताल में
एक तिकड़मी
काट रहा जो फ़सल हाल में, जाने उसने
कब बोई थी'
एक नितान्त निरीह व्यक्ति बोला पीछे से
'बिना सृजे ही!'
'नहीं, अश्क की बात मत करो!'
बोले भैरव, 'घोर अहंवादी है!'
उसके बारे में लिखें, गुण-औगुण उसके गायें
दशों दिशाओं में गूँजें उसकी चर्चाएँ
यही चाहता है वह!'

'लेकिन वह दो शब्द
कहेगा
नहीं किसी के बारे में खुद'
चिहुँके पान-फूल से 'पान-फूल के लेखक'
'वह मन की बात कहेगा
वह ऐसा कहता है।
मन फिर उसका मन (कुछ हँसकर)
उसको किसने जाना
नहीं मिला है, बड़े-बड़ों को
उसका पता ठिकाना।'

'हमको गुटबाज़ बताता है वह'
बोले परिमल-संत-शिरोमनि
'कहता है, हम लोग गुज़श्ता दो दशकों से
एक संस्था से चिपके हैं। नहीं एक भी नया सदस्य
बनाया हमने। रहे वही बारह के बारह
वैसे के वैसे।'
फिर गांधीवादी मुस्कान ज़रा होंठों पर बिखरा
बोले—
'बारह में तो बाँटा अपना अहं निरन्तर
हमने—
और एक यह अश्क
सराहा जिसने उसको
पछताया है।
माथा अपना ठोंक उदा उस क्षण को
गरियाया है।'
'अरे अश्क—यह एक फ़ितूरी'
बोले शेखर
'वह गरियायेगा, यह उसे भुना लेगा
वह लिख कर गाली देगा
(पूछो मटियानी से)
यह उसके पैसे देगा, उसे छपा लेगा।'

'क्यों आप नहीं फिर ऐसा करते?'
एक नितान्त निरीह व्यक्ति बोला पीछे से।

उपन्यास ज़िंदगी का शास्त्र है

वयोवृद्ध साहित्यकार अश्क जी से मुलाकात—एक सुखद संयोग (हालांकि उन्हें वयोवृद्ध कहना असंगत लगता है। बयासी बरस की आयु में, बीमार होते हुए भी तरोताज़ा और तन्दरुस्त)। पठानकोट के रास्ते भर वे बातें करते आए। धर्मशाला पहुंचते ही उन्होंने उस सराय का ज़िक्र किया जहां पचपन वर्ष पहले आ कर ठहरे थे। मैं समझ गया यह कचहरी के पास की एक सराय की बात कर रहे थे- गोल प्रवेश द्वार, भीतर चारों ओर कमरे, बीच में आंगन। ''मैं यहां एक दिन और एक रात ठहरा था,'' उन्होंने बताया, ''बहुत ही ट्रेजिक समय था वह। एक दिन रुक कर ही मुझे वापिस जाना पड़ा....इसी पर कुछ चैप्टर लिखने हैं। इसे पूरा किए बिना मैं मरूंगा नहीं....जो आदमी पच्चास बरस से उपन्यास लिख रहा है, क्या वह इसे पूरा नहीं करेगा!''

''ज़रूर... आप ज़रूर इसे पूरा करेंगे।'' मैंने कहा।

''बीमार हूँ। ऑबसेस्ड हूँ। जो चीज़ मुझे बार-बार हांट करती है उसे लिखे बिना नहीं रहा जा सकता। वह बार-बार अभिव्यक्ति मांगती है''.....।''

शाम को पुलिस ग्राउंड के ऊपर सैर करते हुए उन्होंने मुझे एक बेहद निजी और अंतरंग किस्सा सुनाया जो झकझोर देने वाला है। ग्राउंड के उस ऊपरी हिस्से से योल कैंट से लेकर मकलोड़गंज तक की लाईट्स नज़र आ रही थीं। बीच में हम घूम रहे थे तो एक मारुति वैन हमारे चारों ओर चक्कर लगाने लगी। कोई नौसिखिया ड्राईवर था। बार-बार घूमती वैन की हैड लाइट्स हम पर पड़ती जिस से अश्क जी के चेहरे के उतरते चढ़ते भाव नज़र आते।

अश्क जी ने बताया- ''मेरी पत्नी बीमार थी। टी.बी. थी उसे। उस समय लाईलाज बीमारी। मां कहती, बेटे इसके करीब मत जाना। अड़ौसी-पड़ौसी यही कहते। तुझे भी टी.बी. हो जाएगी। पूरे डेढ़ साल उसके करीब नहीं गया। बीमार है, गर्भवती हो जाए तो लोग क्या कहेंगे। हम साथ-साथ अलग बिस्तर पर सोते थे। यूं एक रात मैंने उसके सिर पर प्यार के हाथ फेरा। बस उसने मुझे जकड़ लिया। हड्डियों का कंकाल रह गई थी वह। उस क्षण मुझे लगा वो तो भूखी हैं। भूखी ही मर जाएंगी। मैं इससे दूर रहा हूँ।.....वह क्षण मुझे नहीं भूलता। मैंने उसे जी भर कर प्यार किया। बहुत ही बहुत ही अजीब स्थिति थी वह...मैं इसे लिखूंगा।''

मुझे ''बड़ी-बड़ी आंखें'' का वह प्रसंग याद हो आया जिसमें पित्तो ने अपनी आंखों में मौत का साया देख लिया था। उसका पति सिर पर हाथ फेरते हुए प्यार से कहता है कि यदि कोई स्वर्ग है तो तुझे ज़रूर मिलेगा....।

अगली शाम अश्क जी से बैठ कर बात हुई।

प्रश्न: अश्क जी! आप पचपन बरसों बाद धर्मशाला लौटे हैं। ऐसा क्या है जिसने आपको बयासी बरस की इस आयु में भी यहां आने पर बाध्य किया!

उत्तर : ऐसा है सुदर्शन जी कि मैं पचास-पचपन साल पहले यहां एक दिन और रात के लिए

आया था। वह घटना कुछ ट्रेजिक थी। बहुत ही दुखद थी और उसे मैं भूल नहीं पाया। जो मैं उपन्यास लिख रहा हूं, यह उसका बहुत ही बुनियादी हिस्सा है। अब मैं वहां तक पहुंचा हूं। तीन चैप्टर मुझे उस प्रसंग में धर्मशाला पर लिखने हैं। अथैंटिक होने के लिए वह सराय देखनी है। मैकलोडगंज देखना है। जगह बदल गई है पर मेरी आंखों में तो वैसी की वैसी ही है। लिखना मुझे है, वह मैं जानता हूं। ज़ाहिर है इस बीच मैंने उसे एक उपन्यास और एक कहानी के अंत में लिया है ताकि भूल न जाऊँ।

.....बयासी बरस हो गए। सम्भव तो नहीं लगता था। लेकिन लगता है नावेल लिखा जाएगा।

प्रश्न : इससे पहले भी आपने हिमाचल को लेकर कुछ लिखा है ?

उत्तर : हिमाचल को लेकर जानबूझ कर तो नहीं लिखा। 1933 में मैं एक ठग तो नहीं कहता, बहुत चतुर और चालाक आदमी के साथ शिमला आया। वह मुझे सेहत बनाने के लिए लाया था। उस समय मैं एक डेली पेपर में दिन और रात काम करता था। शादी हो गई थी। मेरी सेहत खराब चल रही थी। बाद में मालूम हुआ वह कुछ और ही चाहता है। उसने कहा तुम मेरे लिए एक किताब लिख दो। लाइब्रेरी के मेंबर बन जाओ। इस काम के लिए मैं तुम्हें पच्चास रुपए महीना दूंगा। उस समय मैं रूल्दू भट्ठे में रहा। उसके लिए किताब भी लिखी। दोबारा 1934 में शिमला आया तो छोटे शिमले रहा। ''गिरती दीवारें'' का आधा हिस्सा शिमला, आधा जालन्धर-लाहौर का है। इसमें शिमला के लोअर, म़ाल, मिडिल बाजार, शिव मन्दिर, ईंट-ईंट, सीढ़ी-सीढ़ी, स्केंडल प्वाईंट, जाखू सबका वर्णन है। देखिए।

उपन्यास ज़िन्दगी का शास्त्र है। इसमें सारी ज़िन्दगी का निचोड़ होता है। उपन्यास मैंने ज़िन्दगी के शास्त्र की तरह लिखा है। ए मेरे पाठको ! ए मेरे बेटो ! तुम जिन्दगी को समझो.....।

प्रश्न : सुना है आपने डलहौज़ी में रहकर भी कुछ कविताएं लिखी हैं ?

उत्तर : 1948 के बाद मैंने 15,000 रुपए जोड़ा था लाहौर में। पौने दो साल में यह रुपया मेरी बीमारी पर खर्च हो गया। बीमारी लाईलाज थी। फिर पांच हज़ार रुपया उत्तर प्रदेश सरकार से मिला मैंने कोई अर्ज़ी नहीं दी थी। पांच हज़ार अनुदान निराला को भी मिला था। मैंने पूरा रुपया मांगा तं आधी किश्त रुपए 2500 मुझे मिल गया।

उन दिनों नौ महीने मैं दौरा करता था। तीन महीने कहीं जा कर लिखता था। उन दिनं पहले अल्मोड़ा, नैनीताल, मंसूरी, काश्मीर और 1957 में डलहौज़ी आया। मेरी बीबी मेरी व्यवस्थ कर चली गई। बीबी मेरे रहने का इंतज़ाम कर, सब कुछ कर चली जाती थी, फिर लेने आती थी इस बार महीना भर रह गई। आया तो था उपन्यास लिखने,जब धौलाधार की रेंज यहां से वहां तक दिखी तो कविताएं लिखना शुरू कर दीं। एक पक्षी चिल्ला रहा था, उस पर मैंने पहली कविता लिखी : टेरता पाखी,

टेर रहा है
घाटी में आतुर बन-पाखी।
लगातार वह टेर रहा है—
एकाकी, आकुल बन-पाखी!

गूँज उठे हैं केलू के वन,
गूँज उठी घाटी-दर-घाटी
मगर नहीं उसके उत्तर में
है, आवाज़ किसी दूजे पाखी की आती।
सूनापन अपना समेट नभ मौन रुका है।
दोपहरी जैसे होकर गति-हीन थमी है।
नये बादलों के दल केवल
बे-आवाज़
द्रोणियों के पीछे से उठकर
वासनाओं से—
रेंग रहे हैं गिरिमालाओं के वक्षों पर
थमी हवा की सर-सर।
चपला धूप एक दुर्वार डाह से भरकर
जैसे उन पर,
चंचल हो, सायास झुकी है।

औ' बेबस अन्तर की ज्वाला से वन-पाखी
क्रन्दन-ऐसे तीखे स्वर में
टेर रहा है—
टेर रहा है—
मगर नहीं उसके उत्तर में
है आवाज़ किसी दूजे पाखी की आती।

जी होता है—
अनायास मैं भी चिल्ला दूँ!
अपना यह एकाकी सीना चीर,
कंठ के पूरे स्वर से
घाटी का यह मौन गुँजा दूँ।

औ' मेरी वह टेर
घाटियाँ, वन, पहाड़, नदियाँ-नाले—सब लाँघ
गाँव-कस्बों पर छाये।
शोर भेदती हुई नगर का
तम तक जाये!

मैं रहूँ बुलाता,
जैसे लगातार चिल्लाता
यह वन-पाखी
है घाटी का मौन गूँजता।

(जुलाई 7, 1957)

नावेल तो जाता रहा, कविताएं ही लिखता गया। कविताएं स्वयं उतरती गईं....."बारिश हुई तो क्या हुआ, धूप निकली तो क्या हुआ। मैंने बीबी को लिखा, भई तेरा पैसा तो गया। नावेल की रूपरेखा भी वैसे मैंने बना ली थी। फिर पांच चैप्टर नावेल के भी पूरे कर लिए। बाद में मैं बीमार हो गया और मेरी वीबी मुझे ले गई।

प्रश्न : आपने तो बहुत लिखा है, कहानियां, उपन्यास, नाटक, संस्मरण..... जब आपने लिखना शुरू किया था तो कौनसी विधा में.....।

उत्तर : मैंने पहले पंजाबी कविता लिखनी शुरू की। फिर उर्दू में कहानी लिखी जो प्रताप में भेज दी। जो छप गई। उर्दू में कहानियां लिखने लगा। लाहौर गया, जहां 25 रुपए महीने के मिलते थे। हर हफ्ते कहानी लिखता था, जिसे प्रताप में भेजता था। बाबू उपेन्द्र नाथ अश्क के नाम से लिखता था। बी.ए. जालन्धरी भी लिखा था। 1931 में मेरा एक संग्रह छप गया, "नवरत्न" जिसमें पांच कहानियां थीं। सुदर्शन जी के पत्र 'चन्दन' के लिए भी तीन कहानियां लिखीं, जिनकी कुछ निन्दा भी हुई, उस समय मैं नया था। अपने को खुदा समझने वाला, प्रेमचन्द को पत्र लिख मारा। उनका जवाब भी आया।

1934 में मैंने उर्दू कहानी का पहली बार हिन्दी अनुवाद किया। हिन्दी में पहली अच्छी कहानी लिखने से पहले मैं लगभग 80 कहानियां लिख चुका था। पहली कहानी मैं "डाची" को मानता हूँ। डाची से पहले तीन और कहानियां अच्छी हैं- मां, निशानियां और माया। लेकिन डाची से कम स्तर पर। यह कहानियां आज भी उतनी वैलेड हैं। इसी पर बाद में मैंने डलहौज़ी में "बकरोटे की ढलान पर" कविता लिखी। मां, डाची, बकरोटे की ढलान पर, कांकड़ा का तेली, पत्थर-अल-पत्थर एक ही थीम पर हैं। बार-बार जो हेरास करता है, वह बार-बार अभिव्यक्ति की मांग करता है। इन सभी चीज़ों के एक ही चरित्र हैं। देखिए 'बकरोटे की ढलान पर'.....

बकरोटे की इस ढलान पर
(दुर्दिन में जो किसी अभागे की किस्मत-सी
सीधी ढलती चली गयी है।)
फटे हुए पैरों में पहने मोटे चप्पल
औ' पैबन्द लगी शलवार कमर में खोंसे,
क्षण-क्षण घिरती धुंध
बरसती बूँदनियों में
यह लम्बा, यह सड़क नापता, यह भारी शहतीर उठाये,

झुके हुए तन से नब्बे का कोण बनाये,
धीरे-धीरे उतर रहा तू!
नसें उभर आयीं मस्तक पर नीली—
त्वचा घोंटती हो जैसे दम उनका!
फटी-फटी आँखें—
सूनी-सी—
भाव-रहित, बेबस औ' बेहिस!
टूटे बटनों वाले इस गन्दे, मैले चिथड़े से—
जो कमीज़ कहलाती होगी कभी,
झलकता गोरा सीना,
जिसके भूरे बालों में यों मैल जमी है,
उतरे दरिया के सफ़ेद तट की घासों में,
जैसे कीचड़ लिपट गया हो!

इस आज़ाद देश के ओ आज़ाद नागरिक!
मुझे नहीं दुख इसका—
तेरी झुकी पीठ पर
इतना भारी बोझ लदा है,
तीन मील की ऊँचाई तू ढो आया है,
और अभी बालून तलक तू तीन मील नीचे जायेगा।
मुझे नहीं दुख इसका—
तेरे तन पर पूरे वस्त्र नहीं हैं,
नहीं नहाया तू हफ़्तों से।
इस आज़ाद देश के ओ आज़ाद नागरिक!
दुख है लेकिन इस जी-तोड़ परिश्रम से तू
इतना नहीं कमा पायेगा,
जिससे दोनों जून उदर की आग बुझाये,
रूखा-सूखा सही, मगर जो डटकर खाये!
या इस सारे सीज़न की सारी मेहनत से
इतना-भर संचित कर पाये—
पाँगी के उस पार चिनारों और सफ़ेदों की छाया में,
छिपे हुए अनगढ़-से घर में,
बैठे तेरे बीवी-बच्चे, चुप-चुप जिसकी आस लगाये!
सुन्दर पुस्तक पर गिर जाने वाले धब्बे-ऐसे
इस आज़ाद देश के ओ आज़ाद नागरिक!
बीते हुए ग़ुलामों के युग को युग बीते

तेरी दशा गुलामों से लेकिन बदतर है
इसका दुख है।

(दिसम्बर 27, 1957)

मैं कहां-कहां नहीं गया। कुछ थीम हैं जो मुझे हाँट करते हैं। जैसे अमरनाथ की यात्रा। इस पर 1954 के बाद मैंने कविता लिखी, पिछले साल अभी-अभी भी मैंने कुछ दिन पहले कविता लिखी।

प्रश्न : आपके ज़माने में जैनेन्द्र थे, यशपाल थे, आप थे। उस से पहले प्रेमचन्द जिन्होंने बहुत ज़्यादा लिखा और बहुत अच्छा लिखा। इसकी तुलना में आज जो लिखा जा रहा है, वह कहां बैठता है।

उत्तर : देखिए तुलना साहित्य में कला की नहीं होती। जो कला-पूर्ण चीज़ आज लिखी गई जैसे कि ''ए लड़की''। इसका किसी वड़ी से बड़ी कहानी से मुकावला नहीं किया जा सकता। कहानियां हमने भी लिखीं, यशपाल ने भी लिखीं, प्रेमचन्द ने भी लिखीं। तो कला में तुलना नहीं हो सकती। हर कलाकृति जो उत्कृष्ट है वह पच्चास सौ वर्षों के वाद भी ज़िन्दा रहती है, यही एक मानदंड है। आप सरकार से पचास पुरस्कार ले लीजिए। मिला के सारी पत्रिकाओं में अपना चर्चा करवा लीजिए। लेकिन कालजयी रचना ही टिकी रहेगी।

प्रश्न : मेरा कहने का तात्पर्य है कि उस समय लिखा गया। लेखक समर्पित थे लेखन के प्रति...।

उत्तर : देखिए! आपसे एक सवाल करूंगा क्या वैसे नेता हैं? क्या आज सम्पूर्णानन्द, गोविन्द बल्लभ पन्त जैसे साहित्य प्रेमी नेता हैं। यह लोग खुद आते थे। निराला कभी नहीं गए उनके पास। वे आते थे। क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि निराला ने कहा कमीज़ उतार दो, और सम्पूर्णानन्द ने कमीज़ उतार दी। मैंने यह अपनी आंखों से देखा है। कितनी श्रद्धा थी उनमें। कभी भूले नहीं। वैसे नेता नहीं रहे। हम लोग अंग्रेज़ों के राज में भी खुद रोटी कमाते थे। हमें खरीद नहीं सके। यशपाल को नहीं खरीद सके। यशपाल को मरने से दो महीने पहले अकादमी पुरस्कार मिला। मुझे आज तक नहीं मिला। क्या इन पुरस्कारों की बुक्कत है कोई। हमारी रोज़ी-रोटी बन्द कर दी। किताबें तो कोई खरीदता है नहीं तो हम कहां जाएं!

यह कारण है क्यों आज होल-टाईम लेखक नहीं है। जैनेन्द्र, शिवपूजन सहाय, अश्क, यशपाल, विष्णु प्रभाकर सभी होल टाईम। प्रेमचन्द तो होल टाईम थे ही। इलाहाबाद में लगभग 20 लेखक जिन में अज्ञेय, बच्चन, वर्मा, नागर, ...सभी होल टाईम। आज लेखक की हालत चिन्ताजनक है। मैं क्या कर सकता हूं। मैं तो लेखक हूं। लेखक ऐसा तो नहीं कर सकता कि बटन दबाया और चारों ओर रोशनी हो जाए। पहले कोई पढ़ेगा, उसे समोयेगा। मन बदलेगा, दिमाग बदलेगा फिर समाज बदलेगा। इस देश में साहित्यकार बस जी रहा है, यही बहुत है।

.....फिर मेरी चीज़ पूरी दिल्ली के अखबारों में नहीं छपती। जव छपेगी ही नहीं तो क्या होगा। कलम तलवार तो है। तलवार ऐसे ही हवा में भांजते रहो तो क्या फ़ायदा। अब यह नीलाभ से पूछिए। यह यंग आदमी है। यह क्या कहता है इस सिलसिले में।

प्रश्न : आज एक लेखक की स्थिति ठीक नहीं है। आगे लगता है और भी खराब होती जाएगी। इस बारे में आप क्या सोचते हैं नीलाभ जी!

उत्तर : (नीलाभ) इसके लिए लेखक खुद ही उत्तरदायी हैं। मेरा तो असूल है कि एक आदमी रौंदा जाए और वह चीखता भी नहीं तो उसका रौंद दिया जाना ही उचित है। कुछ तो आवाज़ उठाओ। कागज़ कितना महंगा हो गया, कोई भी किताब दस हज़ार से कम में नहीं छपती। बहुत ही सस्ता छापना चाहें तो भी पांच-छः हज़ार रुपए। फिर किताबें कितनी महंगी। महंगी होंगी तो खरीदेगा कौन। हम किसके लिए लिखते हैं। पाठकों के लिए। खरीदेगा कौन। किताब है सौ रुपए की। लेखक इसके लिए कोई आवाज़ नहीं उठाता। लेखक को कुछ भी करते रहिए। तो हुआ यह है कि जो आप पूछ रहे थे। ज़्यादातर लेखक तो शौकिया हैं। कहीं काम किया, शाम को दारू शारू पी। किसी दिन मूड बन गया तो कविता लिख दी। पता लगा कि बड़े कवि हैं। और कविताएं कितनी हैं तो बत्तीस। इस तरह की पूंजी पर कितने दिन आप रह सकते हैं। कालीदास जो आज हैं, एक तो क्वालिटी दूसरे इतने ग्रन्थ लिखे हैं। जब तक आप आठ घंटे नहीं लिखेंगे तो तब तक आप लिख नहीं सकेंगे। जिस तरह की आउटपुट की मांग आप लेखक से करते हैं, वह आउटपुट होगा तो असर भी होगा। प्रेमचन्द का असर आज जन-जन में है और उसे कोई भी हटा नहीं सकता। कोई उन्हें व्यास सम्मान या ज्ञानपीठ अवार्ड नहीं मिला। जनता के कन्धे पर चढ़कर आए वे। उन्हें आप उतार ही नहीं सकते। इस तरह का आपको संघर्ष करना चाहिए। आपको तो चाहिए रंगीन टी.वी. फिर यह होना चाहिए, वह होना चाहिए, फिर आप लिखेंगे क्या?

उत्तर : (अश्क)

.....वह बात बीच में कट गई थी कि एक जर्नलिस्ट को तो खरीदा जा सकता है। लेखक अगर टेढ़ा है तो नहीं खरीदा जा सकता। अब इतने ईनाम बंटते हैं कि किसी सूबे में कोई लेखक नहीं रहेगा, जिसे ईनाम न मिला हो। देख लीजिए, गिन लीजिए।, हां कोई आदमी बहुत टेढ़ा है तो पड़ा रहे किनारे, रोता रहे।

प्रश्न : आजकल ऐसा भी है कि किसी ने कविता संग्रह लिख दिया, एक दो क़हानी संग्रह लिख दिए तो समझते हैं कि हमारी बड़ी चर्चा हो।

उत्तर : लेखक, जो असली लेखक होता है, वही रहता है। ऐसे ही थोड़े कुक्करमुत्तों की तरह लेखक उगते हैं। सबसे बड़ा ईनाम है पाठक। हम कैसे जी रहे हैं।.....पाठक पर। पूरा जीवन लगता है इसके लिए।

प्रश्न : मेरा आखरी सवाल। सुना है समीक्षा रचना को मांजती है इस बारे आपकी क्या राय है?

उत्तर : देखिए। यह फिर एक तरफा बात है। पहली बात कि समीक्षक है भी। मांज सकती है यदि समीक्षक समीक्षक हो। समीक्षक यदि लिखता है और ऑथर कंविन्स नहीं होता तो फिर क्या फायदा। समीक्षक वह होगा जो उस विधा का मास्टर होगा और जो मनवा देगा लेखक से, हां तेरी चीज़ में गलती है।

समीक्षक वह है जिसने समीक्षा को साहित्य की तरह लिया है, जैसे कहानीकार, नाटककार, कवि, ऐसे ही आलोचक। उसमें पूरी साधना चाहिए। अध्यापक लोग हैं। दिन भर गंद-फंद करते हैं किताबें लगाते हैं, ये वो और साथ में समीक्षा। यह स्थिति है इस वक्त हमारी ,एक रत्ती भर इसमें गलती नहीं है। मैं नहीं कहता। समीक्षक मांज सकता है। समीक्षक समीक्षक होना चाहिए।

16 मई, 1992 : संस्कृति सदन, धर्मशाला

पहली बैठक

वशिष्ठ : अश्क जी, सचिव के नाते अकादमी का कार्यभार सँभालते ही जब पता चला कि आप इस वर्ष कुछ महीनों के लिए धर्मशाला आ रहे हैं और अकादमी को अपना आतिथ्येय होने का गौरव प्रदान करेंगे तो मैं बहुत प्रसन्न हुआ। आपका पुराना पाठक हूँ। स्वयं छोटा-मोटा कथाकार हूँ। मेरे तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जो मैं आपके लिए लाया हूँ। मेरी खुशी का अनुमान आप सहज ही लगा सकते हैं। हमारा प्रयास रहेगा कि आपका धर्मशाला प्रवास सुखद, सार्थक और सफल रहे। हमारे ज़िला भाषा अधिकारी हर दूसरे तीसरे दिन आपसे मिलते रहेंगे। उन्हें नि:संकोच अपनी आवश्यकताओं से अवगत कराते रहिएगा।

अश्क : इस सहृदयता के लिए मेरा आभार लीजिए। आप से अभी परिचय हुआ है। कहानियाँ तो आप जानते ही होंगे, मैं नये-से-नये लेखक की पढ़ता रहा हूँ। अब नज़र कमज़ोर हो गई है, पढ़ तो नहीं सकता, पर अच्छी कहानियाँ ज़रूर सुनता हूँ। आपकी भी सुनूँगा। रही अपनी आवश्यकताओं के सिलसिले में संकोच न बरतने की बात तो उस्ताद 'ज़ौक' फ़रमा गए हैं—

ऐ 'ज़ौक' तकल्लुफ़ में है तकलीफ़ सरासर
आराम से वो हैं, जो तकल्लुफ़ नहीं करते

मेरा इस शे'र में शत-प्रतिशत विश्वास है।

वशिष्ठ : आप उस्ताद ज़ौक के कथन का पालन करेंगे तो हमें भी आसानी होगी....जब से मैंने धर्मशाला में आपके आगमन की बात सुनी है, एक सामान्य हिन्दी लेखक और आपके पुराने पाठक के नाते, मेरे मन में कई तरह की जिज्ञासाएं उठी हैं। मैं आपसे एक विस्तृत साक्षात्कार भी करना चाहूँगा ?

अश्क : शौक से कीजिए।

वशिष्ठ : मेरी थोड़ी दिक्कत है। आप तो धर्मशाला में ही रहेंगे और मैं शिमला, इसलिए यदि मैं समय-समय पर, जब भी धर्मशाला आऊँ और आपके सामने अभी जिज्ञासाएं रखूं तो क्या आप थोड़ा समय दे सकेंगे ?

अश्क : आपके मेहमान हैं। आपको समय नहीं देंगे तो किसको देंगे। (हंसते हैं)

वशिष्ठ : नहीं-नहीं यह बात नहीं। आपका कीमती वक्त है.....

अश्क : मैं तो अब दिन-रात उपन्यास लिखूँगा। आप पहले से अपने आने की सूचना दे देंगे तो आपके लिए समय निकाल रखूँगा।

वशिष्ठ : मैं कुछ प्रश्न अभी पूछना चाहूंगा। फिर मैं 31 को आऊंगा और आपके साथ कांगड़ा और

डलहौज़ी जाऊँगा, तब समय निकाल कर कुछ नये प्रश्न पूछूँगा?

अश्क : ठीक है। पूछिए।

वशिष्ठ : सुना है कि आप गर्मियों में किसी न किसी पहाड़ी-स्थल पर जाते हैं.....

अश्क : जाता था। 1965 के बाद फिर अपवाद स्वरूप ही गया हूं।

वशिष्ठ : यों ही स्वास्थ्य की खातिर जाते थे अथवा एकांत में लिखने-लिखाने के विचार से।

अश्क : दोनों ही कारण थे। यक्ष्मा से अपेक्षाकृत स्वस्थ होकर 1948 में इलाहाबाद आया, तब चूंकि यक्ष्मा का अचूक इलाज नहीं निकला था, डॉक्टरों ने एक फेफड़ा बन्द कर दिया था, मुमकिन हो तो गर्मियां किसी पहाड़ पर गुज़ारने की सलाह दी थी, इसलिए 1949 ही से हर वर्ष, जैसे भी रुपए का प्रबन्ध हो, मेरी पत्नी मुझे किसी-न-किसी पहाड़ पर भेजती रही। प्राय: तीन महीने के लिए जाता था। पन्द्रह दिन महीना घूमता था। बाकी समय लिखता था, ताकि पहाड़ पर होने वाला व्यय खले नहीं। थोड़ा स्वस्थ होने पर प्रकाशन में पत्नी का हाथ बंटाने लगा था। देश के नगर-नगर दौरे करता था। गर्मियों के उन महीनों में दिन रात लिखता था। और वह कसर पूरी कर लेता था।

प्रश्न : 1965 में क्या हुआ जो आपने पहाड़ जाना छोड़ दिया...

अश्क : उस वर्ष कसौली में था जब दमे का पहला भयानक दौरा पड़ा, फिर उस तरह पहाड़ जाना सम्भव नहीं रहा। अपवाद स्वरूप ही भले कहीं गया होऊं तो बात दीगर है।

वशिष्ठ : सृजन कार्य भी आप इलाहाबाद में ही करते रहे?

अश्क : हां, कूलर वगैरह लगवा लिए। दमे के लिए तो वाटर कूलर की हवा भी हानिकर है, लेकिन मैंने हमेशा कूलर किसी ऐसी जगह लगवाया है, जहां हवा सीधी मुझ पर न पड़े और कमरा भी अपेक्षाकृत थोड़ा ठण्डा हो जाये। यूं तो वशिष्ठ जी, काम में मन रम जाये तो फिर कभी ऐसी एकाग्रता भी हो जाती है कि गर्मी-उर्मी का कोई एहसास नहीं रहता।

वशिष्ठ : ज़रा भी गर्मी महसूस नहीं होती?

अश्क : होती तो होगी। काम में उसका ध्यान नहीं रहता!

वशिष्ठ : आप किसी ऐसे लेखन का उदाहरण दे सकते हैं जो महत्त्वपूर्ण भी हो और सख्त गर्मी में भी लिखा गया हो?

अश्क : आपके इस प्रश्न पर थोड़ी हंसी आती है, आप इन ठण्डी जगहों के वासी, हमारी जवानी के लेखन की कल्पना नहीं कर सकते, जो प्राय: सख्त गर्मी में आज की सुविधाओं के अभाव ही में होता था और वह सब निकृष्ट था, ऐसी बात भी नहीं। तब बिजली का पंखा-वंखा तो कोई हमारे पास था नहीं, बेपनाह गर्मी में नंगे बदन, केवल कच्छा पहने लिखते थे। लेकिन साठ को पहुंचती उम्र में भी ऐसा हुआ है कि 800 पृष्ठों के अपने वृहद् उपन्यास 'एक नन्हीं किन्दील' के केवल 9-10 परिच्छेद मैंने लिखे थे, जब मैं सितम्बर-अक्तूबर, 1967 में दिल्ली गया। वहां मैं अपनी नितान्त मूर्खता और सहज-विश्वास वश 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' के स्नॉब निदेशक इब्राहीम अल्काज़ी के चक्कर में पड़ गया और मेरे तीन कीमती महीने बर्बाद हो गए। उस किस्से में पैदा हो जाने वाली खासी बदमज़गी के बाद जब मैं वापस इलाहाबाद पहुंचा तब बेपनाह गुस्से ने मुझे कुछ ऐसी एकाग्रता दे दी कि मैं उपन्यास के शेष सारे परिच्छेद (जो साधारणत: पांच-सात वर्ष ले जाते) एक डेढ़ वर्ष में ही लिख ले गया।

मेरे युवा कथाकार मित्र से. रा. यात्री जून, 1969 में इलाहाबाद आये थे—कैसे मैं केवल

एक कच्छा पहने नंग-धड़ंग रिवाल्विंग कुर्सी पर बैठा उपन्यास लिखता था और कैसे सुबह पांच बजे उठ कर सिर्फ दोपहर को दो घंटे आराम करने के अलावा रात बारह-बारह बजे तक काम करता था, इसका विशद वर्णन यात्री ने अपने एक साक्षात्कार की भूमिका में किया है।[1]

मेरे साथ प्रायः ऐसा होता है कि क्रोध, विक्षोभ अथवा मुसीबत मुझे अपरम्पार एकाग्रता प्रदान कर देती है। मन शायद उनसे भागने की प्रक्रिया में सर्जनात्मक हो जाता है और वह एकाग्रता मिल जाती है—जिसमें सर्दी-गर्मी का एहसास बिलकुल नहीं रहता।

वशिष्ठ : अपवाद स्वरूप आप कब-कब पहाड़ गए। क्या तब दमे ने आपको परेशान नहीं किया....

अश्क : पहाड़ तो नहीं हां, दो बार 1974 तथा 1983 में मैं इंग्लिस्तान गया। 1974 में अधिकांशतः लेस्टर में रहा। मौसम भी ठीक रहा। बिलकुल इलाहाबाद की मई जैसा। दमे ने ज़्यादा परेशान नहीं किया। 1983 में अपने छोटे बेटे नीलाभ के यहां सडबरी हिल्ज़ मिडिल ऐक्स में रहा। तब जिस दिन लन्दन के 'हीथ-रो' हवाई अड्डे पर पहुंचा,सख्त बारिश हो रही थी और मुझे दमे की तकलीफ़ हो गई। तीन महीने बिस्तर पर पड़ा रहा।

वशिष्ठ : क्या आपने वहां भी कुछ लिखा?

अश्क : 1974 में तो 'बांधों न नाव इस ठांव' जैसा 1200 पृष्ठों का वृहद् उपन्यास लिखने के बाद सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार विजेता के नाते रूस गया था। चूंकि कैम्ब्रेज विश्वविद्यालय से भाषण के लिए निमंत्रण था, मास्को से लन्दन चला गया। लेस्टर में अपनी एक बहुत पुरानी मित्र के यहां रहा। कैम्ब्रेज, लन्दन, लाइडन, युत्रेख्त (हालैण्ड) और बौन (प. जर्मनी) के विश्वविद्यालयों में भाषण देता और लन्दन के विभिन्न इलाकों का जीवन देखता घूमा। सिर्फ कुछ कविताएं लिखीं। 1983 में 'गिरती दीवारें' के छठे खण्ड के दो कठिन परिच्छेद, कुछ कविताएं और दो लेख लिखे।

वशिष्ठ : जब आप पैंसठ के बाद दमे के भय से पहाड़ नहीं गए और सृजन-कार्य भी प्रायः इलाहाबाद में ही करते रहे, तब आपने 82 वर्ष की आयु में, दमे के बावजूद, कैसे इस वर्ष गर्मियाँ धर्मशाला में गुज़ारने का फ़ैसला किया। क्या इसलिए कि यहाँ ऊँचाई केवल चार हज़ार फीट है और यहां दमे का उतना भय नहीं है?

अश्क : नहीं यह बात तो नहीं।.....

वशिष्ठ : यही मैं सोचता था। क्योंकि चिरापूंजी (असम) के बाद देश में धर्मशाला ही ऐसा दूसरा पहाड़ी स्थल है, जहां सबसे ज़्यादा वर्षा होती है। और जब बरसात में धुंध बढ़ जाती है तो उमस और घुटन भी बढ़ जाती है। एक मुद्दत के बाद पहाड़ी स्थल और वह भी धर्मशाला में आने का निश्चय ही कोई दूसरा प्रबल कारण होगा?

अश्क : हां यह तो सही है। इलाहाबाद ही में किसी ने मुझसे कहा था कि धर्मशाला भले ही चार हजार फ़ीट की ऊंचाई पर हो, लेकिन वहां वर्षा बहुत होती है। यह भी एक कारण है कि मैं यहां मई-जून के महीनों में आया हूँ, हालांकि इलाहाबाद में मेरा दमा इन महीनों में थोड़ा आराम करता है और मुझे भी आराम से रहने देता है। धर्मशाला में भले ही थोड़ी हुई, पर दमे की तकलीफ़ हुई तो ज़रूर। बरसात समय से पहले शुरू हो जाय तो ऐन मुमकिन है कि दमे की तकलीफ थोड़ी बढ़ जाय। बढ़ी हुई उम्र में इलाहाबाद से इतनी दूर आना भी जोखिम-भरा था। लेकिन वशिष्ठ जी, बिना

1.'व्यक्तिगतता में छिपा हुआ रचनात्मक व्यक्तित्व' कहानी के इर्द-गिर्द पृष्ठ 80 से 137 तक।

जोखिम उठाये कोई कठिन काम कभी पूरा हुआ है, जो यह हो जाता कि वास्तव में धर्मशाला मुझे अगले साल आना चाहिए था, इस साल आ गया हूं तो इसीलिए कि अगले साल जोखिम बढ़ जाता। धर्मशाला में मैं एक बहुत पुरानी याद ताज़ा करने आया हूँ।

वशिष्ठ : इसी संदर्भ में एक दो जिज्ञासाएं और कुछ प्रश्न मेरे मन में कुलबुला रहे हैं। मुझे लगता है कि शायद आप पहले भी कभी धर्मशाला आए हैं, क्योंकि आपके उपन्यास 'सितारों के खेल' में मेक्लोडगंज और कुछ दूसरी जगहों का प्रचुर वर्णन है ? अथवा क्या आपने वह तब कल्पना ही से किया है।

अश्क : किया तो वह सब कल्पना से है, लेकिन मैं एक दिन के लिए धर्मशाला आया ज़रूर था।

वशिष्ठ : सिर्फ एक दिन के लिए और आपने इतने परिच्छेद लिख डाले और इतनी जगहों का ज़िक्र किया।

अश्क : परिच्छेद तो कल्पना से लिखे। वह तो सारा उपन्यास ही कल्पना पर आधारित है, पर धर्मशाला की जिन जगहों का वहां ज़िक्र है, वे तो वही हैं, जो मैंने उस एक दिन में देखीं।

वशिष्ठ : आप धर्मशाला कब आए थे ?

अश्क : ग़ालिबन 1936 में।

वशिष्ठ : तब क्या विगत 55 वर्षों में आपको फिर धर्मशाला आने का उद्रेक ही नहीं हुआ अथवा किसी कारणवश, इस जगह से आपके मन में किसी तरह की वितृष्णा पैदा हो गई।

अश्क : नहीं धर्मशाला आने का उद्रेक भी कई बार हुआ। धर्मशाला की याद भी प्राय: आई— विशेष कर कोतवाली बाज़ार को जाते हुए सड़क के दायीं ओर नीचे घाटी में ऊपर से दूर दाड़ी तक फैले हुए धर्मशाला नगर और उसके बीचों-बीच बहते पहाड़ी नाले, उसके बड़े-बड़े पत्थरों और उनमें चटकती धूप में चमकती हुई पानी की क्षीण धाराओं और उनके लिश्कारों की...। पहले नहीं आ पाया, यह बात दीगर है कि इसमें वितृष्णा की कोई बात नहीं। कोई बात बुरी लगी हो, ऐसा भी नहीं है बल्कि जिस दृश्य का ऊपर उल्लेख किया है, वह मुझे बराबर हांट करता रहा है।

वशिष्ठ : तब फिर 55 वर्षों तक यहां न आने का क्या कारण समझा जाए। मैंने कहीं पढ़ा है कि आप नैनीताल दो बार गए, रानी खेत दो बार गए, कश्मीर दो बार गए, कसौली दो बार गए, बेचारे धर्मशाला ने क्या कसूर किया था कि अच्छा लगने के बावजूद आपने इसे भुलाए रखा। मैं इसी प्रदेश में जन्मा-पला हूं। इसके प्रति मेरी भावनाओं ने ही ऐसा प्रश्न मेरे मन में उठाया है, आप बुरा नहीं मानेंगे...कहीं ऐसा तो नहीं कि अच्छा लगने पर भी इस शहर से आपके जीवन की कोई दुखद स्मृति जुड़ी हो ?

अश्क : स्मृति तो ज़रूर जुड़ी है, और वह बेहद दुखद और त्रासद भी है... मैं उसे उसकी समग्र तीव्रता के साथ अपने उपन्यास में उतारना चाहता था, इसलिए मैं 55 वर्ष बाद धर्मशाला आया हूं।

वशिष्ठ : वही, जिसका सम्बन्ध 'सितारों के खेल' के साइड हीरो डा. अमृत राय से है।

अश्क : कतअन नहीं, जैसा कि मैंने पहले कहा, वह उपन्यास तो सरासर काल्पनिक है— इस बात के बावजूद कि उसके उत्तरार्ध में घटनाओं को मैंने यथार्थ का पुट दे दिया, क्योंकि इस बीच मेरी दृष्टि बदल गई और मैं हकीकतों के अन्दर छिपी हकीकतों को भी देखने लगा था। वे यथार्थ नज़र न आती तो आप यह प्रश्न ही न पूछते। लेकिन लाख यथार्थ लगे हैं तो वे सरासर काल्पनिक ही... रही मेक्लोडगंज में उस काल्पनिक प्रसंग के पात्रों को रखने और धर्मशाला के अन्य स्थलों के

उल्लेख की बात तो वह इसलिए किया कि मैं उन जगहों को भूल न जाऊं, बल्कि जब अपने वृहद् उपन्यास में, जिसकी रूप-रेखा तब मेरे ज़ेहन में आ चुकी थी,उस प्रसंग के लिखने का वक्त आए तो मैं आसानी से वह सब लिख ले जाऊं।

वशिष्ठ : क्या उपन्यास की पूरी रूप-रेखा आपने बना ली थी ?

अश्क : पूरी तो नहीं, लेकिन 1934 से 1936 तक 'गिरती दीवारें' की सारी घटनाएं घट चुकी थीं। उपन्यास लिखने का विचार तो मन में पैदा हो गया था। 'सितारों के खेल' मैंने इसलिए जल्दी खत्म कर दिया कि 'गिरती दीवारें' शुरू कर सकूँ।

वशिष्ठ : तब अगर कोई ऐसी नितांत व्यक्तिगत बात न हो, तो ज़रा एक दिन की उस घटना के बारे में कुछ बताइए ?

अश्क : क्या आपने 'गिरती दीवारें' का तीसरा वृहद् खण्ड 'एक नन्हीं किन्दील' पढ़ा है ?

वशिष्ठ : ''गिरती दीवारें'' तो पढ़ा है, 'एक नन्हीं किन्दील' नहीं।

अश्क : तब उस अनुभव की ट्रेजिडी और तकलीफ़ को आप पूरी तरह नहीं समझ सकते।

वशिष्ठ : कुछ संक्षेप में ही बताइए।

अश्क : तीन-चार सौ पृष्ठों में फैली हुई बात को संक्षेप में कहना है तो कठिन, पर कोशिश करता हूँ।

'गिरती दीवारें' की नायिका चन्दा को तो आप जानते हैं— चेतन की मोटी-मुटल्ली, सीधी-साधी, भोली-भाली, हँसमुख, उदार और सहिष्णु पत्नी है, जो अपनी खुछ जन्मजात और विरल खूबियों के कारण न केवल उसे अच्छी लगने लगती है, बल्कि वह उससे प्यार भी करने लगता है। वह उसे पढ़ाने लगता है, संगीत और सितार सिखाने लगता है ताकि वह शिक्षित और सुसंस्कृत होकर उसके बराबर की संगिनी बन जाय। वह भी मनोयोग से पढ़ने और सीखने लगती है। उस वक्त जब चेतन भविष्य के सपनों के हवा-महल बना रहा होता है, उसकी ज़िन्दगी अचानक एक ज़बरदस्त मोड़ लेती है—चेतन का ससुर पागल हो जाता है। उसकी सास बस्ती गुज़ा जालन्धर से लाहौर आकर एक सेठ के यहां 7 रुपए माहवार पर महाराजिन की नौकरी कर लेती है। सितम-दर-सितम यह कि उस सेठ की दत्तक पुत्री कृष्णा से चेतन के सहपाठी और मुहल्लावासी अमीचंद की सगाई हो जाती है, जो पी.सी.एस. के कम्पीटीशन में सफल होकर मुहल्लेवालों को हेय समझने लगा है। तब अपने समाज में अपनी पत्नी की इज़्ज़त बढ़ाने के लिए चेतन स्वयं सब जज बनने का फैसला करता है और लॉ कालेज में दाखिल हो जाता है। वह एफ.ई.एल. की परीक्षा फर्स्ट डिवीज़न में पास कर लेता है कि उसकी पत्नी चन्दा, जिसके लिए वह सब तरद्दुद कर रहा था, बच्चे के जन्म के बाद बीमार रहने लगती है और डॉक्टर उसकी बीमारी के सिलसिले यक्ष्मा का सन्देह प्रकट करते हैं। चेतन अपने रुसूख से उसे लाहौर के 'गुलाब देवी टी.बी. सेनेटोरियम' में दाखिल करा देता है।

इधर वह बेपनाह मेहनत के बाद एल.एल.बी. की परीक्षा देता है और उसे पूरा विश्वास है कि वह डिस्टिंक्शन लेकर पास होगा, उधर सेनेटोरियम वाले 7 महीने बाद उसकी पत्नी को डिस्चार्ज कर देते हैं। आराम-उपचार से चन्दा का वज़न काफी बढ़ गया है, कपड़े छोटे हो गए हैं, लेकिन डाक्टरों का ख्याल है कि उसकी बीमारी अन्दर से नहीं गई, बल्कि शायद दूसरे फेफड़े में भी फैल गई है। गर्मियों में चेतन यदि उसे धर्मशाला या कसौली ले जाए तो वह यदि घटेगी नहीं तो

बढ़ेगी भी नहीं।

तब हालांकि चेतन की मां उसे लाख समझाती है कि वह बेकार पैसा बरबाद कर रहा है, चेतन पत्नी के गहने गिरवी रखकर रुपए लेता है। अपनी सास को लाहौर से बुलाता है और अपनी बीवी को दो महीने धर्मशाला में रखने के विचार से धर्मशाला आता है। देवराज की सराय में उतरता है। वहां का माहौल उसे स्वास्थ्य-वर्धक नहीं लगता। वह उसी सुबह घर से निकल पड़ता है कि छावनी या मेक्लोडगंज के एकांत में दो-एक कमरे लेकर रहेगा। पूरा दिन बरबाद करके, छावनी से ऊपर 'ग्लेनमोर' नाम की कॉटेज लेकर दिये जले वापस सराय में पहुंचता है। तब वह देखता है कि उसकी पत्नी और सास दोनों बेतरह रो रही हैं। उसकी पत्नी को 'हिल डायरिया' हो गया है। वह एक ही दिन में निढाल हो जाती है। वह सुबह की पहली बस से वापस जाना चाहती है। चेतन की कोई पेश नहीं चलती। दूसरी ही सुबह उसे वापस होना पड़ता है। बारह बजे रात जब गाड़ी जालंधर पहुंचती है तो उसकी पत्नी इस हद तक कमज़ोर हो जाती है कि उसे कुर्सी पर लाद कर घर ले जाना पड़ता है।

यह ट्रेजिक स्थिति है, जो 55 वर्ष तक मुझे सालती रही है और मैं उसे ताज़ा करने के लिए इस उम्र में, इतना जोखिम उठा कर धर्मशाला आया हूं।

वशिष्ठ : ऐसी तीखी और कष्टप्रद स्मृति भाव-प्रवण-व्यक्ति भुला नहीं सकता। लेकिन इसके लिए आप का 55 वर्ष तक धर्मशाला में न आना मेरी समझ में नहीं आया। पहले आकर भी आप इसे ताज़ा कर सकते थे?

अश्क : कर सकता था। पर जब उसे लिखने का समय आता, वह कब की धुंधला चुकी होती। मैंने यह तय किया था कि उस त्रासद घटना को उसकी सारी कटु यथार्थता के साथ चेतन के माध्यम से काग़ज़ पर उकेर दूंगा। जब उस प्रसंग के चित्रण का वक़्त आएगा, मैं कुछ दिन के लिए धर्मशाला आऊंगा, उन तमाम जगहों को देखूंगा और इस अनुभव को नितांत प्रामाणिक बनाकर पेश करूंगा।

वशिष्ठ : तो क्या उस प्रसंग के चित्रण का समय अब आया है?

अश्क : नहीं, समय तो अगले वर्ष आयेगा, पर मैं इतना बूढ़ा हो गया हूँ, नहीं जानता कि अगले वर्ष में इतना जोखिम उठा सकने के योग्य हूँगा कि नहीं। सो जब गत वर्ष उपन्यास का छठा वृहद् खण्ड 'पलटती धारा' दस वर्षों के कठिन श्रम के बाद पूरा करके मैंने नीलाभ से कहा, बेटे, आती गर्मियों में मुझे कुछ दिन के लिए धर्मशाला ले जाना। बूढ़ा तो हो गया हूं। चढ़ाई-उतराई का प्रश्न है, पर किसी तरह वह सब मार्ग देख आऊँगा और प्रसंग को यथाशक्य प्रामाणिक बना कर लिख डालूंगा।

वशिष्ठ : आप तो हमारे अतिथि बन कर आए हैं और मैंने सुना है कि यहीं रह कर धर्मशाला के प्रसंग लिखेंगे।

अश्क : परसों मैं यहां आया हूं। कल ललित जी के साथ राणा रघुवीर सिंह आए, जिनके पिता ने आज से 55 वर्ष पूर्व मुझे ग्लेनमोर कॉटेज' किराए पर देने का वादा किया था। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि वे मेरे साथ जाकर वह रास्ता दिखाएंगे, जिससे मैं मेक्लोडगंज गया था। तभी मैंने तय किया कि मैं केवल नोट नहीं लूँगा, बल्कि धर्मशाला वाला दुखद प्रसंग पूरी तफ़सील के साथ यहां से लिख कर ले जाऊंगा।

वशिष्ठ : यह अकादमी का ही नहीं, इस नगर का भी सौभाग्य है कि आप इसे अपने प्रसिद्ध

उपन्यास में उकेर रहे हैं। हम सब गौरवान्वित महसूस कर रहे हैं। हम कोशिश करेंगे कि आपका प्रवास सुखद हो। अकादमी आपको हर सम्भव सुविधा देगी। अब मैं 31 को फिर आऊंगा और आपको कांगड़ा और डलहौज़ी ले जाऊंगा। आशा करता हूं इस बीच आपका रुका हुआ उपन्यास चल निकलेगा।

अश्क : इस सब कृपा और कष्ट के लिए मैं आपका और अकादमी का आभारी हूं। मैं आपकी प्रतीक्षा करूंगा।

जून 6, 1992 धर्मशाला

दूसरी बैठक

वशिष्ठ : अश्क जी, 15-17 दिन बाद आपसे पुन: भेंट हो रही है। सबसे पहले तो आप यह बताइए कि इस बीच आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ?

अश्क : खाने-पीने के सिलसिले में तो नहीं हुआ। देसराज बहुत ही कुशल और सक्षम रसोइया है। प्यारा आदमी है। मेरा बहुत खयाल रखता है। नीलाभ मुझे उसके हवाले कर गया है, और मैंने भी अपने आप को उसके सुपुर्द कर दिया है। काम के सिलसिले में ज़रूर कष्ट हुआ। टाईपिस्टों के चक्कर में 7 कीमती दिन विनष्ट हो गए। संसालवी साहब न आते तो और न जाने कितने दिन बरबाद हो जाते, लेकिन अब संसालवी साहब आ गए हैं, कवि-हृदय, नौजवान हैं। मेरे साथ उनका सिलसिला बैठ गया है।

वशिष्ठ : उपन्यास कुछ आगे बढ़ा या नहीं?

अश्क : आपको यह जानकर खुशी होगी कि सात आठ महीनों से जो चैप्टर रुका हुआ था वह चल पड़ा है अथवा यूं कहूं कि मस्तिष्क में जो बाधा थी, वह दूर हो गई है। न केवल वह परिच्छेद सन्तोषप्रद ढंग से लिखा गया है, बल्कि आगे भी एक चैप्टर शुरू कर दिया है। यूं समझिए कि काम चल पड़ा है।

वशिष्ठ : यह तो सही है कि कांगड़ा की नाट्य कार्यशाला में आपने बहुत प्रेरणाप्रद भाषण दिया। उससे कार्यशाला में आने वाले रंगकर्मियों को प्रोत्साहन मिला, लेकिन जब आप मुझसे मिले थे तो एन.एस.डी. के बारे में बहुत कटु थे। वैसी कोई भी बात आपने वहां नहीं कही।

अश्क : मैं तो वशिष्ठ जी, जैसा कि मेरी आदत है, बहुत ही कटुता भरा भाषण देता। एन.एस.डी. के कर्त्ताधर्ताओं की भयंकर ग़लत और मूर्खतापूर्ण विचारधारा के कारण, (जिसमें प्रमुख भूमिका उनके निहायत सक्षम डायरेक्टर और कुशल अभिनेता इब्राहीम अल्काज़ी की है) मैंने न केवल आज से लगभग चौथाई सदी पहले नाटक लिखना छोड़ दिया था, बल्कि नाट्यांदोलन से अपने आप को काट भी लिया था।

वशिष्ठ : क्षमा कीजिए। उस विचारधारा में क्या गलत था?

अश्क : अल्काज़ी और उसके बाद उनके तमाम चेले-चपाटे भी यही मानते हैं कि मंच पर सबसे ज्यादा महत्त्व निर्देशक का और फिर अभिनेताओं और रंगकर्मियों का होता है। वे नाटककार को

कोई महत्त्व नहीं देते। यह स्थिति ऐसी ही है, जैसी किसी बारात में आगे-आगे बैण्ड बाजा हो, पीछे सजी-बनी घोड़ी हो, फिर बाराती हों, लेकिन दूल्हा ग़ायब हो। मेरे और अल्काज़ी के विवाद में क्या हुआ, इसका विशद वर्णन मैं अपने उपन्यास 'एक नन्हीं किन्दील' तथा अपने एकांकी-संग्रह 25 श्रेष्ठ एकांकी की भूमिकाओं में कर चुका हूँ। उसका दुष्परिणाम यही हुआ कि पहले मेरे नाटक सभी मंचों पर खेले जाते थे (विदेशों में आज भी खेले जाते हैं) मगर एन.एस.डी. की तमाम शाखाओं में, जो मकड़ी के जाले की तरह सारे देश में फैली हुई है, नहीं खेले गए। इसके अलावा पिछले पच्चीस वर्षों में एन.एस.डी. ने कई उच्च कोटि के अभिनेता, निर्देशक तथा दूसरे रंगकर्मी देश को दिए हैं, नाटककार एक भी नहीं दिया।

इस अर्से में हिन्दी साहित्य (एन.एस.डी की नितांत गलत धारणाओं के कारण) एक भी उच्चकोटि का मौलिक हिन्दी नाटक, मंच पर प्रस्तुत नहीं कर सका। जबकि एन.एस.डी. के अस्तित्व में आने के बाद से एक से बढ़ कर एक नाटक हिन्दी में आने चाहिए थे और इन लोगों को विदेशी नाटकों के चर्बे अथवा आपस में मिलकर लिखे हुए सैकिण्ड- थर्ड रेट नाटकों पर अपनी क्षमता को नष्ट न करना पड़ता। मैं इसे देश और हिन्दी का बहुत बड़ा दुर्भाग्य मानता हूं कि इब्राहीम अल्काज़ी और उनके चेले पश्चिमी नाटकों के अनुवाद करते रहे हैं और हिन्दी नाटक का विकास नहीं हो पाया। ऐसी परिस्थिति में नेशनल स्कूल आफ ड्रामा का नाम, 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा न होकर नेशनल स्कूल आफ परफार्मिंग आर्ट्स' होना चाहिए। तब इसमें कोई इस बात की शिकायत नहीं करेगा।

वशिष्ठ : क्षमा कीजिए, आपने मुझसे कहा था कि आपका नाम उद्घाटनकर्ता के तौर पर रख दिया गया है, लेकिन आप इन बातों में से कुछ न कुछ ज़रूर कहेंगे। मगर आपने कही नहीं। कैसे आपने इतनी जल्दी अपना मन बदल लिया? आपकी बेबाकी और स्पष्टवादिता तो जगत प्रसिद्ध है।

अश्क : वह जो बराबर के कमरे में लड़की रहती थी न—अमला— मैं एक दिन उसके अनुरोध पर कांगड़ा में उसका नाटक देखने गया था। नाटक तो वैसा ही था, जैसा कि एन.एस.डी. वाले मिलकर लिखते हैं, लेकिन मैं अमला के निर्देशन और अभिनय-क्षमता से प्रभावित हुआ। इसके अलावा मैंने पाया कि उसमें काव्य की काफी समझ है। जिस दिन मुझे कार्यशाला के उद्घाटन को कांगड़ा जाना था, उस दिन सवेरे यूं ही डायनिंग रूम में उससे मुलाकात हो गई। शायद मैंने उससे अपने मन की बात कही। उसने मुझसे कहा कि आपको ऐसा नहीं बोलना चाहिए। बुजुर्ग जो गलती कर जाते हैं, उसकी सज़ा बच्चे क्यों पायें? आपको तो उसकी पीठ ठोंकनी चाहिए और ऐसा भाषण देना चाहिए जिससे उन्हें प्रोत्साहन मिले, वे अपने ध्येय में आगे बढ़ें और सफल हों।

मैं तो वशिष्ठ जी, आप जानते हैं, बहुत ग्रहणशील आदमी हूं। ऐसे दौरों में प्राय: गुड्डा (मेरा छोटा बेटा नीलाभ) मेरे साथ रहता है और वह मुझे ब्रीफ कर देता है कि मैं क्या कहूं क्या न कहूं। लेकिन वह बहुत व्यस्त आदमी है। मुझे धर्मशाला ले आया था, सात दिनों में मेरी उचित व्यवस्था करके चला गया। तो समझ लीजिए कि उसकी जगह अमला ने ले ली। जैसा उसने कहा, वैसा ही मैंने भाषण दे दिया।

वशिष्ठ : इसका मतलब है कि हमें अमला का आभार मानना चाहिए।

अश्क : निश्चय ही। आपको भी और मुझे भी।

वशिष्ठ : सुना है आपने डलहौज़ी में रह कर भी कुछ कविताएं लिखी हैं?

अश्क : मैं डलहौज़ी 1957 में गया था। 'गिरती दीवारें' के दूसरे खण्ड का पैटर्न, जो दस वर्ष तक

लाख सिर पटकने के बाद भी हाथ नहीं आया था, उस वर्ष अचानक एक बंगाली पुस्तक पढ़ते हुए ज़ेहन में कौंध गया। मैं वास्तव में डलहौज़ी के एकांत में 'गिरती दीवारें' का दूसरा खण्ड शुरू करने के इरादे से गया था। पांच परिच्छेदों की रूप-रेखा ज़ेहन में मुकम्मल थी। सोचता था, चल पड़े तो शायद पांच से ज़्यादा ही लिख ले जाऊं। लेकिन जब मेरी पत्नी मेरे रहने की व्यवस्था ठंडी सड़क की स्नो व्यू कॉटेज में करके इलाहाबाद लौट गई और दूसरी सुबह उपन्यास की एक पंक्ति भी मुझसे नहीं लिखी गई। सामने बायें से दायें फैली हुई धौलाधार की हिममंडित चोटियों ने मेरा ध्यान खींच लिया। लाख कोशिश करने पर उपन्यास की चार पंक्तियां भी कागज़ पर नहीं उतरीं। प्रकृति के उस अनुपम सौन्दर्य के साहचर्य में मेरा मन केवल कविता करने को होने लगा। बरसात अभी शुरू न हुई थी और जैसे नीचे मैदानों में बरसात से पहले कुछ अजीब सी उमस और घुटन का एहसास होता है और वासनाएं उमड़ उठती हैं, वैसा ही पहाड़ की ठण्डक के बावजूद यहां भी होता है। पशु पक्षियों का मैटिंग सीज़न शुरू होता है और इंसान के दिल में भी अनजानी इच्छाकांक्षाएं सुगबुगा उठती हैं। रीति कालीन कवियों ने न जाने कितने दोहे बरसात के आगमन की प्रतीक्षा करने वालों को लेकर लिखे हैं। ऐसे में नीचे घाटी में कोई अकेला पक्षी तीखे स्वर में बार-बार टेरने लगा— और कविता की पहली दो पंक्तियां कागज पर उतर आईं—

'टेर रहा है घाटी में आतुर वन-पाखी
लगातार वह टेर रहा है—
एकाकी, आकुल वन पाखी॥'

शाम तक कविता हो गई।

मैं तो वशिष्ठ जी, मूड का कवि हूं। जब प्रकृति के उस साहचर्य में कविता लिखने लगा तो लिखता चला गया। पत्नी को मैंने लिखा कि मेरी जान, तेरा पैसा तो इस बार बरबाद हो गया। नावल लिखा नहीं जा रहा, कविताएं लिख रहा हूं। मैं क्या करूँ?

कौशल्या ने लिखा कि आप तो काव्य को साहित्य की सर्वोत्कृष्ट विधा मानते हैं, जब तक मन है शौक से कविताएं लिखिए, उपन्यास भी लिखा जाएगा।

तो हुजूर वशिष्ठ साहब, 'स्नो-व्यू' में आने के दो महीने बाद तक मैं प्रकृति के बदलते मूड्ज़ में लगातार कविता लिखता रहा। डलहौज़ी प्रवास के उन दो महीनों में लिखी सारी कविताएं कुछ पहले की लिखी कविताओं के साथ मेरे बेहद चर्चित संग्रह 'सड़कों पर ढले साये' में संकलित हैं। लगभग आठ कविताएँ— टेरता पाखी, पीला चांद, संगतरी चांद, दलदली दिन, खिला दिन, सितारे कूद जाएंगे, बकरोटे की ढलान पर और वयस का कार्तिक।

'स्नो-व्यू' में बदलते मौसम में बदलते मूड के अनुसार लिखी गई कविताओं में 'वयस का कार्तिक' बहुत ही सॉफ्सटिकेट कविता है—सितम्बर का महीना आ गया था। मुझे आए हुए तीन महीने हो गए थे। उस कविता के बाद मेरा मूड चूक गया। प्राय: मैं सितम्बर में इलाहाबाद वापस चला जाता था। मेरी पत्नी ने लिखा भी। लेकिन उपन्यास लिखना शुरू किये बगैर मुझे वापस जाना स्वीकार नहीं। तो मैंने उपन्यास लिखना शुरू किया और चल भी पड़ा। पांच चैप्टर लिख ले गया। सर्दी हो गई थी। ठण्ड खा गया। मेरी पत्नी आई और मुझे ले गई।

वशिष्ठ : आप तो हिमाचल की दूसरी पहाड़ी जगहों में भी रहे हैं। क्या आपने कोई दूसरी कविता

भी हिमाचल के किसी रमणीक स्थल को लेकर लिखी है ?

अश्क : मैं 1963-65 में कसौली जाता रहा। शाम को प्राय: मैं नीचे बाज़ार को पार कर, दूर नीचे आबादी के परले कोने तक श्मशान के पार राम कृष्ण आश्रम की परली सीमा तक चला जाता था। वहां एक छोटी सी पहाड़ी से नीचे चण्डीगढ़ का अद्‌भुत दृश्य दिखाई देता था। कई दिनों की मूसलाधार वर्षा के बाद आसमान खुल जाने पर मैं एक शाम वहां गया तो वहां के नीचे का दृश्य देखकर चकित, विस्मित और अभिभूत खड़ा रह गया। नीचे, दायें से बायें और सामने आक्षितिज घने सफेद बादलों का वितान-सा तना हुआ था, तभी मेरे वहां पहुंचते ही बादलों के नीचे चण्डीगढ़ की बत्तियां जल उठीं और एक बड़ा विशाल वृत्त बादलों के शामियाने पर बन गया। वहां से मैंने ऊपर की ओर निगाह उठाई तो आकाश पर भी रोशनी का एक अपेक्षाकृत छोटा वृत्त बना हुआ था। मैं देर तक वहां खड़ा प्रकृति का वह अद्‌भुत दृश्य देखता रहा। अंधेरा घना होने लगा तो मैं चला आया। यह दृश्य मेरे ज़ेहन में अंकित हो गया और फिर एक निहायत संश्लिष्ट कविता के रूप में कागज़ पर उतर आया।

उस कविता का नाम है— 'खोया हुआ प्रभा मण्डल'— 'सड़कों पर ढले साये' के बाद वह मेरे संग्रह की न केवल पहली कविता है, बल्कि उसी के नाम से संग्रह का शीर्षक भी दिया गया है।

वशिष्ठ : अश्क जी, मैं तो अब सुबह ही शिमला चला जाऊंगा। फिर आपसे वहीं कहानी संगोष्ठी के अवसर पर मुलाकात होगी। तब तक आशा करता हूं कि धर्मशाला को लेकर आपके तीनों चैप्टर पूरे हो जाएंगे ?

अश्क : आपके मुंह में घी-शक्कर। मेरे वे परिच्छेद सन्तोषप्रद रूप से पूरे हो जाएं तो और क्या चाहिए।

9 अगस्त, 1992 : संस्कृति सदन, धर्मशाला

तीसरी बैठक

वशिष्ठ : अश्क जी! शिमला में तो मिल नहीं पाये। स्ट्राइक के कारण गोष्ठियां स्थगित हो गयीं। फिर महीने बाद पालमपुर में करनी पड़ी। अब पालमपुर की दोनों गोष्ठियां खत्म हो गई हैं। यदि आप अन्यथा न लें और इजाज़त दें तो मैं इन गोष्ठियों के परिप्रेक्ष्य में आज की कहानी और कविता पर थोड़ी चर्चा करना चाहूँगा।

अश्क : मैं तो बहुत पुराना कथाकार और कवि हूँ। कहानी लिखना तो मैंने 20 वर्ष पहले छोड़ दिया था, लेकिन कविता आज भी लिखता हूं। आज की कहानी तो साहित्य क्षेत्र में पदार्पण करने वाले नवागन्तुकों की कहानी है। पढ़ता तो हूं, लेकिन उन पर कुछ ज़्यादा कहने का अधिकारी भी हूं, ऐसा मैं नहीं मानता।

वशिष्ठ : आपने स्वयं अपने एक साक्षात्कार में लिखा है और टी.वी. पर प्रसारित होने वाले अपने वृत्त-चित्र में भी कहा है कि आप नये-से-नये लोगों के साथ दौड़ में शामिल हैं और नए और पुराने

में भेद नहीं मानते। जब आप आज भी कविता लिखते हैं और आप समझते हैं कि जैसी कविता आप करते हैं, वह समय से पहले की है, जिसका प्रचलन हिन्दी में पांच-दस वर्ष बाद होगा, तब आज की कहानी पर आप क्यों बोलने के अधिकारी नहीं हैं ?

अश्क : आप समझते हैं तो पूछिए। लेकिन मैं किसी आज के नौजवान आलोचक की भाषा में तो उत्तर नहीं दे सकता, कथा और काव्य के संदर्भ में मेरी अपनी मान्यताएं हैं और मैं उनसे बंधा हूं।

वशिष्ठ : वही हम जानना चाहते हैं ,आज की कहानी और कविता के बारे में आप क्या सोचते और समझते हैं। आप नि:संकोच बताइए। लोग आपकी बात मानते हैं या नहीं, इसकी चिन्ता न आपने पहले की और न आपको अब करनी चाहिए ?

अश्क : तो फिर पूछिए जो भी आपके मन में आये।

वशिष्ठ : कहानी-गोष्ठी में आप थोड़ा आवेग में आ गए। बजाय अन्त में बोलने के तीन-चार वक्ताओं के बाद ही बोले। गोष्ठी की सफलता अथवा असफलता के बारे में, मैं नहीं जानता कि आप की क्या राय है और दूसरे क्या सोचते हें ? लेकिन मैं समझता हूं कि उसकी तथाकथित विफलता में ही उसकी सफलता निहित है। विचारों का जो गर्मागर्म आदान-प्रदान हुआ और भले ही आवेश में आपने कुछ बातें कही, वे किसी हद तक यथार्थता से बहुत दूर नहीं थी। न यात्री जी की, न पंकज विष्ट की। और यही इस गोष्ठी की उपलब्धि है। मैं समझता हूं, इसकी चर्चा अर्से तक रहेगी और लोग इसे भूल नहीं पाएंगे। कहने का ढंग आपका बेहद आक्रामक हो गया था, इसका अफसोस है।

अश्क : मुझे भी। बेहद। और मैं आपसे उसके लिए क्षमा मांगता हूं। बूढ़ा हो गया हूं। अंग ही ढीले नहीं हुए, संयम भी ढीला हो गया है और लाख चाहने पर भी मैं दोनों को कस नहीं पाता। लेकिन जहां तक मेरा ताल्लुक है, कृषि विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री कीर्ति सिंह ने अपने लम्बे भाषण में मेरी दुखती रग पर हाथ रख दिया। फिर गोष्ठी के प्रवर्तक डा. पुष्पपाल सिंह विषय पर बोलने के बदले बहुत लम्बे समय तक अवांतर बातें करते रहे और सामने बैठे छात्रों को संबोधित करने वाले अध्यापकों की तरह कहानी कैसे लिखी जाती है, कहानी में क्या-क्या होना चाहिए, सविस्तार बताने लगे और भूल ही गए कि सामने श्रोताओं में वर्षों-वर्षों कहानियां लिखने वाले दिग्गज लोग उपस्थित हैं। वे अपना होम वर्क करके नहीं आए थे। उन्हें केवल 'कहानी की दशा और दिशा' पर ही बोलना चाहिए था। ज़ाहिर है बहुत समय निकल गया और मुझे लगा कि ऐसे ही एक आध वक्ता और आ गया तो मैं दो शब्द भी नहीं कह पाऊंगा। तब मैंने सबसे अनुमति लेकर ही बोलना शुरू किया। रही आवेग की बात तो इतनी देर तक संदर्भ से कटी बातें सुनते रहने से मेरा दिमाग गर्म हो गया। अफसोस है, लेकिन मैं कुछ नहीं कर सकता, आप स्थिति जानते हैं, इसलिए यह भी जानते होंगे कि मैंने कोई गलत बात नहीं कही, शब्दों पर कन्ट्रोल नहीं रहा, लेकिन 82 वर्ष का हो गया हूं, गोष्ठी में लगभग सभी उपस्थित लोग मुझसे बहुत ही कम उम्र के थे। मेरे बच्चों के समान थे। आशा है आप सब लोग मेरी आवेश भरी बातें खातिर में नहीं लाएंगे।

वशिष्ठ : अब उस सब को भूल जाइए और गोष्ठी के विषय आज की कहानी की दशा और दिशा के सन्दर्भ में—आप जो सोचते हैं, कहिए। यद्यपि आपने वहां संकेत रूप में कहा भी। थोड़ा सा विस्तार से बताइए।

अश्क : डा. पुष्पपाल सिंह ने सिर्फ 1985 के बाद लिखी जाने वाली कहानियों का उल्लेख करते हुए अपने आपको नितान्त नए लेखकों की रचनाओं तक सीमित कर लिया। जैसे कहानीकार के नाते कल पैदा होने वाले युवा कथाकार जो करेंगे, उससे कहानी की दशा स्थापित अथवा दिशा निर्धारित होगी। जब कि सच यह है, पुराना अथवा मंझली पीढ़ी का या साठोत्तरी पीढ़ी का कोई सशक्त कथाकार यदि लगातार उच्चकोटि की कहानियां लिखेगा, तो वह निश्चय ही कहानी को नई दिशा दे सकता है।

दुर्भाग्य से इस वक्त कहानी की दशा और दिशा के बारे में कोई दो टूक मत देना न केवल गलत, बल्कि भ्रामक ही होगा। सरकार की गलत नीतियों के कारण जब साहित्य,संस्कृति से बाद हो गया है, साहित्यकारों के लिए— जिनकी एक पूरी खेप की खेप अपनी कलम के बल पर रोज़ी-रोटी चलाती थी—अब ऐसा करना मुश्किल है और लोग पूरा वक्त साहित्य-सर्जना करने के बदले दूसरे धंधों में जा लगे हैं और कभी-कभी शौकिया कहानियां लिखते हैं।

'विशाल भारत', 'हंस' , 'सरस्वती' या 'वीणा' जैसी, उच्च कोटि के साहित्य के लिए समर्पित एक भी पत्रिका पूरी हिन्दी पट्टी में नहीं है। राजनीति पर आधारित रंगी-चुंगी पत्र-पत्रिकाएं निकलती हैं, जिनकी कुर्सियों पर प्रायः उच्च कोटि के साहित्य से अनभिज्ञ सम्पादक बैठे हैं। चूंकि पैसा बंटता है, इसलिए चमचे पहले हैं। वरिष्ठता अथवा कनिष्ठता, उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता का कोई मान-दण्ड नहीं है। एक जमाना था कि 'विशाल भारत', 'हंस', 'सरस्वती' और 'वीणा' जैसी उत्कृष्ट पत्रिकाओं में वरिष्ठ और उत्कृष्ट को सबसे पहले छापा जाता था। उत्कृष्ट लेखकों की रचनाएं हर अंक में छपती थीं। अब ऐसा नहीं है। अतः किसी वरिष्ठतम लेखक की उत्कृष्टतम रचना भी नहीं छप सकती क्योंकि सम्पादकों के पास उनके चमचों की रचनाओं के अम्बार लगे हुए हैं।

जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूं, ऐसे में अच्छी रचनाएं रूई के ढेर में सूई की तरह गायब हो जाती हैं। कभी-कभी पुरानी या मंझली अथवा साठोत्तरी पीढ़ी का कोई लेखक 'राम संजीवन की प्रेम कथा', 'पर्दे' अथवा 'पनाह' या 'ऐ लड़की' जैसी उच्च कोटि की कहानी सृज देता है और उसकी चर्चा हफ्तों महीनों होती रहती है, फिर सन्नाटा छा जाता है। ऐसी स्थिति में दशा को दुर्दशा का नाम ही दिया जाएगा और दिशा को दिशाहीन ही ठहराया जाएगा।

वशिष्ठ : विचारधारा के संदर्भ में भी तो कुछ कहिए। क्योंकि रचना की दिशा का निर्धारण तो विचारधारा ही करती है।

अश्क : वह तो गड़बड़ा गई। जब तक प्रगतिशील अथवा प्रतिक्रियावादी कहलाने वाले खेमे हवाओं की तेज़ी और तुन्दी सहते हुए अपने खूंटों से जमे रहे उनकी तनावें नहीं टूटीं। लगभग तीन दशकों तक कहानी दो स्पष्ट दिशाओं में अग्रसर होती रही। एक सौंदर्यवादी राह थी। जिसमें प्रसाद से लेकर जैनेन्द्र-अज्ञेय और उनके अनुयाइयों तक लेखक अच्छी रचनाएं करते रहे। दूसरी ओर प्रेमचंद की उपयोगितावादी, आदर्शवादी धारा थी। ये दो धाराएं या दिशाएं साफ़ और स्पष्ट नज़र आती थीं, लेकिन लगभग दो तीन दशकों पहले प्रगतिवादी खेमा टूटने लगा। पहले दो हिस्सों में बँटा। सी.पी.आई. के लेखक जो पूर्ववत् 'प्रगतिशील' कहलाते रहे और उनसे छिटक कर अलग होने वाले सी.पी.आई.एम. के लेखक जो 'जनवादी' कहलाये। फिर उनसे आई.पी.एफ. और नक्सलवादी धारणाएं फूटीं और दिशा विभ्रम की सी स्थिति में कथाकार टामकटोये मारने लगे। दूसरे खेमे में भी इसी सब हड़बोंग में टूट गए।

अब केलू, कचनार और सफेदों के पेड़ों से ढकी कलावादी दिशा अथवा शीशम, शाल, जामुन,

आम और बरगद के पेड़ों से ढकी प्रगतिवादी राह कहीं नज़र नहीं आती, केवल छोटे-छोटे शाद्वल हैं—कहीं मयूर विहार दिल्ली में कृष्णा सोबती अपनी कभी-कभी लिखी जाने वाली उत्कृष्ट रचनाओं से साहित्य के प्यासों की तृष्णा बुझाती हैं, कहीं भोपाल में सत्येन कुमार 'शेरनी' और 'जहाज़' और 'जंगल' जैसी कहानियां सृजते हुए साहित्य की छाया को बरकरार रखे हैं। कहीं दूधनाथसिंह कहीं पंकज विष्ट कहीं उदय प्रकाश छोटे-छोटे घास के लॉन सजाए हैं, बाकी तो वीराना है और जिसमें कहीं ममता कालिया और ऐसे कथाकार कांटेदार झाड़ियों में छोटे-छोटे लाल फूल खिलाए हैं और कहीं मृणाल पाण्डे ने कैक्टस उगा रखे हैं। इस सब में कहानी की दिशा और दशा का कोई पता नहीं चलता।

वशिष्ठ जी हुजूर जब तक साहित्य संस्कृति का अंग नहीं बनता, सरकार केन्द्र और प्रान्तों में लाइब्रेरियों की थोक खरीद का विकेन्द्रीयकरण नहीं करती, लाइब्रेरियों को किताबें खरीदने के लिए सीधे ग्राण्टें नहीं मिलती, हिन्दी प्रदेश में लाइब्रेरी आन्दोलन नहीं शुरू होता, केंद्रीय और प्रांतीय विकास- प्राधिकरण हर बस्ती में लाइब्रेरी की इमारत नहीं बनाते, हर शहर और कस्बे में किताबों की दुकानें नहीं खुलतीं, लेखक अपनी कलम से रोज़ी रोटी नहीं कमाते, तब तक न कहानी की दशा ठीक हो सकती है, न दिशा।

वशिष्ठ : अश्क जी, कविता गोष्ठी में आप ज़्यादा देर रुके नहीं, मैं तो चाहता था उसकी अध्यक्षता भी आप करते लेकिन आपने अपना भार डा. बलदेव बंशी पर डाल दिया उनको विश्वस्तर का कवि भी बना दिया और तीन कविताएं पढ़ कर चले आए। लेकिन आप कहानी लिखना चाहे बीस वर्ष पहले छोड़ आए हों, कविता आज भी लिख रहे हैं और उत्तरोत्तर अच्छी लिख रहे हैं, इधर यह भी कहा जाने लगा है कि जैसी कविता आप लिख रहे हैं वैसी उर्दू, हिन्दी में कोई नहीं लिखता। मैं ग़ज़लों की बात नहीं करता, कविताओं-नज़मों की बात करता हूं। सबसे पहले आप यह बताएं कि आप कवि के रूप में अपने और अपनी कविता के बारे में क्या सोचते हैं?

अश्क : मैं कहानी लेखक, नाटककार, उपन्यासकार बाद में हूं,पहले कवि हूं— पंजाबी, उर्दू हो या हिन्दी हो तीनों क्षेत्रों में मैंने कवि के रूप में ही पैर रखा। यह और बात है कि ज़िन्दगी का साथ निबाहने तथा अपने चिर चंचल और अत्यंत क्रियाशील मस्तिष्क को पागल होने से बचाने के लिए मैंने अन्य विधाओं को भी सिद्ध किया। बेहतर-से बेहतर लिखा। लेकिन कविता का दामन मैंने कभी नहीं छोड़ा। दो-चार साल के अन्तराल की बात नहीं करता, वरना लड़कपन से आज तक लगातार कविताएं लिखता रहा हूं। मैं जन्मजात सहज और मूड का कवि हूं। (मेरे पहले छः कविता संग्रह इस बात के साक्षी हैं।) प्राय: मेरे हर काव्य संग्रह में अधिकांश कविताएं एक ही मूड की हैं। फिर जब वह मूड चूक जाता है तो मेरा दूसरा संग्रह तैयार होता है। उसकी पहली दो-चार कविताओं में पिछले मूड का रंग झलकता है। फिर एकदम अलग मूड की कविताएं उतरने लगती हैं। और मैं वैसे ही कविताएं कागज़ पर उकेरता चला जाता हूं— 'प्रात प्रदीप' की पन्द्रह कविताएं एक मूड की कविताएं हैं। 'उर्मियां' में ज़्यादातर दूसरे मूड की कविताएं हैं। 'दीप जलेगा' अपने में एक अकेली कविता है, जिसका कोई संस्पर्श उसके पहले या बाद के संग्रहों में नहीं मिलता, यही बात शेष संग्रहों के बारे में कही जा सकती है। मेरा ताज़ा—नौवां कविता संग्रह 'पीली चोंच वाली चिड़िया के नाम' 1990 में छपा है। चूंकि वह 'अदृश्य नदी' के बारह वर्ष बाद छपा इसलिए उसमें कई मूड्ज़ (मन:स्थितियों) की कविताएं हैं और उनमें बहुत वैविध्य है।

मेरे तीनों खण्ड काव्य 'बरगद की बेटी', 'चांदनी रात और अजगर' और अभी पिछले साल छपा 'स्वर्ग एक तलघर है' भाषा शैली, थीम और वस्तु में एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं और

पिछले साल से मैं जो कविताएं लिख रहा हूं उनमें से अधिकांश न केवल मेरी अपनी बल्कि हिन्दी की तमाम कविताओं से भिन्न और आगे की कविताएं हैं। हो सकता है कुछ वर्ष बाद उनका प्रचलन हो, लेकिन आज तो नहीं है। इस वर्ष छप जाएगा। भेजूंगा। स्वयं देख लीजिएगा, मैं सच कहता हूं या वड़ हांक रहा हूं।

वशिष्ठ : मैंने आपसे जो कविताएं सुनी हैं उन्होंने मुझे चकित कर दिया है— 'सरकश खिलन्दरी किरण', 'मत रोको बच्चों को अमरूद तोड़ने दो', 'कगारा टूटेगा ही', 'मोटा मालिक और तुनुक मिज़ाज कुर्सी', 'एक दिन आकाश ने कहा' और 'मेज़ चुप हो गयी' तथा 'कोरा कागज़ प्रतीक्षारत है' ये सब एक दूसरी से भिन्न और कुछ अजीब और चकित कर देने वाले वैविध्य को लिए हुए हैं। फिर अभी तो आपकी लम्बी कविताएं, 'जड़ें', 'अवलम्ब' और 'ठण्ड' हैं। ये कविताएं न जाने अपने अन्तर में कितनी कितनी व्याख्याएं छिपाए हुए हैं। नीलाभ कहता था न जाने पापा जी को क्या हो गया है ? कैसी सर्रलिस्टिक कविताएं करने लगे हैं ?

अश्क : उसने मुझसे भी कहा था, मैंने जवाब दिया था मेरे बेटे मैं नहीं जानता। मैं दिल्ली में बीमार पड़ा था। बिस्तर पर लेटे-लेटे ये आठ दिनों में आठ कविताएं मेरे दिमाग़ में आ गईं। और मैंने इन्हें कापी पर टीप लिया। टोकी खन्ना से मारुति वैन लेकर आया और मुझे ले गया। खन्ना में जाकर मैंने इन कविताओं को संशोधित किया। इन्हीं दिनों दिल्ली राज्यसभा के इस्तमत चुगताई वाले मेरे संस्मरण को लेकर शोर मचा और किसी मित्र ने कहा अश्क सिनाईल (जराग्रस्त) हो गए हैं। तब मैंने इन कविताओं को व्याख्यायित करने के लिए एक छोटी सी कविता लिखी जो मैं आपको सुना भी देता हूं। शीर्षक है— 'बूढ़ा सनका गया है'—

बुड्ढा सनका गया है
वो कहते हैं—
    बरामदे में, लॉन में, बाग़ीचे में
    अपने आप बतियाता घूमता है
जरा-ग्रस्त और सीनाईल हो गया है।

वो लोग क्या जानें—
    80 वर्ष पार करने के बाद कभी
    नितान्त ठस न हो तो बेजान चीज़ें,
    उससे बतियाने लगती हैं
उसे अपने मन की व्यथा
    सुनाने लगती हैं
वह काग भाषा जान लेता है
आत्मीयों और मित्रों से कटकर
    सृष्टि के विशाल परिवार को
    अपना मान लेता है
पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, दर-दीवार
सरिता-सागर, मरु-पहाड़

उसे अपने अनुभव सुनाते हैं
उसके तजरुबे सुनते हैं
वह उनकी बातों में सुख पाता है
वे उसकी बातें गुनते हैं
वह सीनाईल नहीं, ज्ञानी हो जाता है
लेकिन ज्ञानियों की बातें
ज्ञानी ही समझते हैं।

वशिष्ठ : आप अपने समकालीन कवियों में किसको पसन्द करते हैं ?

अश्क : आज जो कवि लिख रहा है वह मेरी तरह वयोवृद्ध अथवा अधेड़ या युवा हो या नवागन्तुक—मेरा समकालीन है। मैं सबकी कविताएं पढ़ता हूं। यह और बात है कि पसन्द उनकी अच्छी कविताएं ही करता हूं।

वशिष्ठ : तो फिर अपने सम-वयस्क कवियों में आप किसे पसन्द करते हैं और किस से प्रभावित हैं ?

अश्क : पहली बात तो यह है कि मुक्तिबोध से लेकर नागार्जुन तक अपने तमाम सम-वयस्क कवियों को मैंने बराबर पढ़ा है और उसमें से सबकी कुछ न कुछ कविताएं मुझे पसन्द हैं, लेकिन लिखता मैं अपनी तरह हूं। शिल्प अथवा रूपाकार में कहीं से भी ले सकता हूं, लेकिन अनुभूतियां मेरी अपनी होती हैं। बहुत लम्बी और बहुत दिलचस्प और भरपूर ज़िन्दगी मैंने गुज़ारी है। अत्यन्त भाव-प्रवण व्यक्ति हूं न जाने कितनी घटनाओं की ख़राशें मेरे दिलो-दिमाग़ पर हैं इस संदर्भ में एक शे'र भी लिखा है—

मैंने गम बांट दिया शे'र में अफसाने में
जुज़ मेरे और कोई जख़्म न जाने मेरे॥

जब मैं कविता लिखता हूं वशिष्ठ जी, तो जाने कौन-कौन से अनुभव संश्लिष्ट रूप में ज़ेहन से कागज़ पर उतर आते हैं। कई बार कोई अनुभव या विचार लगातार दिनों, महीनों और कई बार तो वर्षों कौंधता रहता है। फिर प्रेरणा के किसी सम्पुटित क्षण में कागज़ पर उतर आता है।

शमशेर और त्रिलोचन तो एक तरह के कवि हैं। शमशेर लगातार प्रयोगवादी कविताएं लिखते रहे। निहायत दुरूह और कठिन। यह भी कहा जाने लगा कि वे कवियों के कवि हैं। उनके यहां शिल्प के अनोखे प्रयोग मिलते हैं... त्रिलोचन ने जो कहा ज़्यादातर सानेट के माध्यम से कहा। यानी अपने पहले संग्रह 'धरती' के बाद। ....नागार्जुन ने जब गद्य का दामन छोड़ा तो लगातार भ्रमण और कविता करते रहे और जन कवि कहलाए। वे सशक्त कवि हैं। छन्द पर भी उनका बेहद अधिकार है, लेकिन उनकी आज़ाद कविताएं कई बार नितांत लयहीन, सपाट और नारों जैसी हो जाती हैं और मन-मस्तिष्क पर कोई असर नहीं छोड़तीं...मुझे उनकी छोटी कविताएँ पसन्द हैं- 'वेतवा किनारे', 'तुमसे क्या झगड़ा है' आदि-आदि...

केदार नाथ अग्रवाल में भी बहुत भिन्नता है, लेकिन कई बार उनकी कविताएं भी कविताएं नहीं लगतीं। बयान-मात्र लगती हैं। बहुत लम्बी कविताएं इनमें किसी ने नहीं लिखीं, खण्ड काव्य भी नहीं। मेरे निकट कवि की शक्ति और क्षमता का पता लम्बी कविता में ही चलता है।

अज्ञेय ने ज़रूर एक कविता लिखी, मुक्तिबोध ज़रूर लम्बी कविता लिखते थे। कई बार

उनकी कविता में प्रतीकों की इतनी भरमार होती थी कि कविता को समझ पाना कठिन होता था। उनकी लम्बी कविता 'चांद का मुंह टेढ़ा है' मेरे कथन का प्रमाण है और कई बार वे दूसरे हिन्दी कवियों की तरह उर्दू के शब्दों का प्रयोग गलत करते थे। लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि मुक्तिबोध सच्चे कवि थे और अपने आप से लगातार जूझते थे और बहुत सशक्त कविता करते थे।

वशिष्ठ : मंझली पीढ़ी के किसी कवि के बारे में आप कुछ कहना चाहेंगे ?

अश्क : मंझली पीढ़ी ने हिन्दी को चार-पांच सशक्त कवि दिए। धर्मवीर भारती, विजय देव, नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा। रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा पर मैं बहुत लम्बे लेख लिख चुका हूं जो मेरी आलोचना-पुस्तक 'अन्वेषण की सह यात्रा' में संकलित हैं। उससे ज़्यादा मैं कुछ नहीं कहना चाहूंगा। धर्मवीर भारती, बहुत प्रतिभाशाली कवि रहे हैं, गद्यकार भी। लेकिन वर्षों-वर्षों उन्होंने कुछ नहीं लिखा। अपने कथनानुसार धर्मयुग में घास खोदते रहे। उनके 'अन्धायुग' को मैं हिन्दी साहित्य की एक अमर कृति मानता हूं, साही बहुत प्रतिभाशाली थे, लेकिन दुर्भाग्य से अहदी और अहंकारी थे। मुझे उनकी कुछ कविताएं बेहद पसन्द हैं। थोड़े एब्स्ट्रैक्ट हैं, लेकिन बहुत अच्छा लिखते हैं।

लक्ष्मीकान्त वर्मा ने ढेरों लिखा है, बहुत अच्छी कविताएं मैंने उनके मुंह से सुनी हैं। लेकिन उनके जीवन और साहित्य में बेहद बिखराव है। उन्होंने उसे साधा नहीं और संगठित नहीं किया। इसका मुझे हमेशा अफसोस रहेगा। मैं इन सभी कवियों का प्रशंसक हूं और जब कभी इन की कविताएं मेरे सामने पड़ती हैं जिन्हें मैं पसन्द करता हूं, पुनः पढ़ता और रस पाता हूं।

वशिष्ठ : लेकिन उसके बाद तो दो पीढ़ियां काव्य क्षेत्र में उतर आईं. क्या कभी उनकी भी कविताएं आपने पढ़ी हैं। उनके बारे में कुछ बताना चाहेंगे ?

अश्क : नये काव्य की उत्स और दिशा के बारे में तो वही कहना चाहूंगा जो मैंने नई कहानी के संदर्भ में कहा। सिवा इसके कि कहानियां उतनी अच्छी नहीं मिलेंगी, जितनी कविताएं। यूं कह लीजिए कि कहानी में कुछ एक बड़े शाद्वल नज़र आएंगे। काव्य क्षेत्र में बड़े शाद्वल तो नहीं, लेकिन विशाल रेगिस्तान में बहुत ही हरी भरी घास की थिगलियां दिखाई देंगी जो अपने अन्तर्भूत जल से अपने इर्द-गिर्द थोड़ी सी धरती को सींचती हैं और उसे हरा भरा रखती हैं। विशाल जन जीवन का कोई भी संस्पर्श आज के कवि की कविता से नहीं मिलता।

दूसरी यह कि अच्छी कहानियों की अपेक्षा अच्छी कविताएं ज्यादा मिल जाएंगी। यहां उपादेयता अथाव अनुपादेयता से बहस नहीं है, वरन् मन अथवा मस्तिष्क को जरा सा छू जाने वाली कविता का ही ज़िक्र है। जहां तक मंझली पीढ़ी के बाद की पीढ़ी की बात है कुछ कवि मुझे बहुत पसन्द हैं और उनकी एक न एक कविता ने मेरे दिलो-दिमाग पर गहरा असर डाला है। इनमें सोमित्र मोहन, इब्बार रब्बी, आलोक धन्वा, उदय प्रकाश, चंद्रकांत देवताले, कुमार विकल, असद ज़ैदी, नरेन्द्र जैन, मंगलेश डबराल, विरेन डंगवाल, ज्ञानेन्द्र पति और मान बहादुर सिंह प्रमुख हैं।

मान बहादुर की पहले कोई कविता नहीं पढ़ी थी लेकिन इधर उनकी बहुत अच्छी कविताएं निगाह में गुज़री हैं—

एक बात मैं सबके बारे में कहना चाहता हूं कि लोक जीवन से, विशाल जन-जन से इनका कोई सम्पर्क नहीं है। लगता है ये लोग नौकरियां करते हैं और शौकिया कविताएं लिखते हैं। भगवान ने अभिव्यक्ति की शक्ति दी है, इसलिए जब मन होता है लिख देते हैं। दूसरी बात यह है

कि ये लोग जब भी उर्दू शब्दों का प्रयोग करते हैं तो गलत करते हैं।

जहां तक मूर्त और अमूर्त की बात है। मुझे ऐब्स्ट्रैक्ट से नफ़रत नहीं। बहुत अच्छी कविता में थोड़ा इव्हाम, थोड़ी अस्पष्टता ज़रूरी है। लेकिन ऐसी अस्पष्टता भी किस काम की कि स्वयं कवि ही आकर समझाए तो कविता समझ में आए। मैं ऐसी अस्पष्ट कविताओं का कायल नहीं। वह चाहे शमशेर बहादुर सिंह की हो या मान बहादुर सिंह की।

अभी कुछ ही दिन पहले हिन्दी साहित्य की दो प्रमुख पत्रिकाओं— 'इन्द्रप्रस्थ भारती' और 'वर्तमान साहित्य' ने काव्य विशेषांक निकाले हैं। मैंने इन दोनों को देखा है और यह भी देखा है कि कुछ कवि अपनी भूमि को बरबस बनाए हुए हैं। कुछ के पैरों के नीचे से धरती साफ़ खिसकती मालूम होती है। कारण तो मैं जानता हूं लेकिन उसका यहां कोई ज़िक्र नहीं। यहीं मैं दो एक बातें नीलाभ के बारे में कहना चाहूंगा। 'संस्मरणारंभ' से 'चीज़ें उपस्थित हैं' तक उसके यहां उत्तरोत्तर प्रगति की धारा स्पष्ट लक्षित होती है। उसकी कुछ कविताएं जैसे 'लड़ाई', 'चुप्पी', 'खलील चौधरी' भुलाए नहीं भूलतीं, लेकिन फिर उसके सिर पर जन कवि होने का भूत सवार हो गया और यद्यपि वह एक सियासी दल से जुड़ा है और 'जन-संस्कृति मंच' का उपाध्यक्ष भी है, लेकिन मैं नहीं समझता कि उसको अपनी भूमिका को छोड़ कर जन कवि की भूमिका निभानी चाहिए। वह मेरी बात तो सुनता नहीं, लेकिन और चन्द साल बाद उसे मालूम होगा कि उसने बहुत कीमती वर्ष महज अपनी सनक में खो दिए हैं। जन कवि होने के लिए जनता के साथ रोज़ का सम्पर्क होना ज़रूरी है और उच्च वर्ग के लेखकों के लिए वर्ग च्युत हो कर नागार्जुन की तरह गांव-गांव शहर-शहर घूमना अनिवार्य है। नीलाभ इतनी बड़ी कुर्बानी करेगा तो सफल हो जाएगा। यद्यपि इसमें भी मुझे संदेह है। उसकी अपनी भूमि बहुत सशक्त है उसे वहीं जमे रह कर जनता के दुःख दर्द को अपना स्वर देना चाहिए।

वशिष्ठ : कुछ बिल्कुल नए कवियों के बारे में कहना चाहेंगे?

अश्क : यही कि सब में अभिव्यक्ति की तड़प बेपनाह है। इतनी कविताएं छपतीं हैं कि पढ़ना तो दूभर, देखना भी मुश्किल है और यह एहसास भी होता है कि लोगों को अच्छी कविता के गुण-धर्म का कोई ज्ञान नहीं। उनको यह मालूम नहीं कि मुक्तक छन्द में चोटी की उत्कृष्ट कविता लिखना छन्दोबद्ध कविता लिखने से कहीं मुश्किल है। दिल्ली या किसी दूसरे नगर से (नाम भूल रहा हूं) एक पत्रिका निकलती है—'संधान'। जीवन प्रकाश जोशी उसके सम्पादक हैं। उस का हर अंक एक नए कवि को समर्पित होता है। हर महीने उस पत्रिका में एक कवि की पूरी रचनाएं छपती हैं। जाने उसके कितने नम्बर निकल चुके हैं। मैंने उन्हें पढ़ा भी, मेरी बड़ी इच्छा थी कि मुझे कभी कोई अंक पसन्द आए। अथवा किसी कवि की कविताएं अच्छी लगें तो मैं उन्हें विस्तार से पत्र लिखूं। लेकिन वह अवसर नहीं आया। एक अपरम्पार अराजकता है जो काव्य क्षेत्र पर छाई हुई है। लेकिन मैं निराश नहीं हूं। इन्हीं में से कुछ बिरवे सही खाद और पानी पाएंगे और बढ़ेंगे, बढ़ कर छायादार वृक्ष बनेंगे।

हज़रते अश्क जहां बैठ गये

बल्लभ डोभाल

अश्क जी!... यह नाम बिल्कुल नया नहीं है। कद-काठी, चेहरा-मोहरा भले अस्सी वर्ष पुराना पड़ गया हो, पर पुराने माडल में उसे शामिल नहीं किया जा सकता, मन चंगा तो कठौती में गंगा, मन ताज़गी से भरा है तो कठौती क्या करे। रही नए-पुराने की बात! तो अश्क जी की नज़र में पुराना कुछ है ही नहीं, नया यदि कुछ है तो वह भी 'हमसे है' यानी हमने पैदा किया है। मतलब यह कि अपने को नया कहने वाले तुम कौन?... हम न होते तो तुम आते कहां से - इसलिए तुम्हारे नयेपन में भी हम ही हैं।

अश्क जी के इस दर्शन को नकारा नहीं जा सकता। लगता है, जीवन सतत है जो नई पीढ़ी के नाम से पुराने को लेकर ही आगे बढ़ता है।

'सब कुछ मैं ही हूं। मुझमें ही सब कुछ दिखाई देगा।' अर्जुन से कृष्ण ने यही कहा था। अश्क जी की यही घुसपैठ लगभग सभी क्षेत्रों को आंदोलित करती है, घर-परिवार, समाजों-सम्मेलनों में ही नहीं, विभिन्न प्रदेशों में भी उनकी घुसपैठ का अपना अंदाज़ निराला है, कहना होगा कि-

अंदाज़ अपने आईने में देखते हैं वो,
पर ये भी देखते हैं कोई देखता न हो।

लेकिन देखने वाले तो कयामत की नज़र रखते हैं। दो वर्ष पहले हिमाचल में जब उनके आने की पदचाप सुनी तो सोचा, धर्मशाला आए हैं तो यहां भी ज़रूर आएंगे। यहां से मेरा अभिप्राय ऊपर धर्मशाला से है जो इन दिनों हिमाचल प्रदेश का मुख्य आकर्षण बना हुआ है। सन् 1962 के बाद दलाईलामा का स्थायी निवास बन जाने से धर्मशाला का यह ऊपरी भाग अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर विदेशी पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र बन गया है। यहां से धौलाधार की बर्फीली चोटियों के दृश्य दूर से ही यात्री को आकर्षित कर जाते हैं। घने जंगलों के बीच गूंजते झरनों का संगीत जहां-तहां सुनाई पड़ता है। विदेशी सहायता के बूते जंगलों के बीच मंगल मनाते तिब्बती शरणार्थियों के बारे में जानने की उत्सुकता भला कौन नहीं रखता। अपर धर्मशाला आने वाला यात्री इस लामा बस्ती के थोड़ी दूर आगे भागसू नाग शिव मंदिर के दर्शन किए बिना नहीं लौटता। इस स्थान का भी अपना आकर्षण है। सोचा, अश्क जी तो लेखक हैं और लेखक का यहां आना ज़रूरी है। सुना था, नीचे धर्मशाला लेखक-गृह में टिके हैं।

मेरा अनुमान सही निकला। अगली शाम चार बजे के लगभग देखा कि कंधे पर गर्म दुशाला लटकाए अश्क जी खरामा-खरामा चले आ रहे हैं। पतलून के ऊपर ऊनी जाकिट दुपलिया टोपी में

उन्हें दूर से पहचाना जा सकता है। चलते-चलते यकायक साथी को रोककर बातें करना, कभी चश्मा उतारकर ऊँचे पहाड़ और जंगलों की तरफ देखा और फिर ऊबड़-खाबड़ पत्थरों पर जमकर कदम बढ़ाना उनकी अदाओं में शामिल है। हिमाचल भाषा एवं कला-संस्कृति अकादमी के सचिव सुदर्शन वशिष्ठ के साथ बातें करते अपनी ओर आते देख मैंने चार कुर्सियां निकलवाकर बाहर खुले में डाल दीं। बैठने के बाद ही सुदर्शन जी ने मेरा परिचय कराया। अश्क जी को कौन नहीं जानता, इसलिए उनके बारे में कुछ न कह मेरी तरफ इशारा करते हुए बोले, 'ये हैं,' बल्लभ डोभाल, जिनका ज़िक्र मैंने किया था, कहानी, उपन्यास लिखते हैं। मोटे शीशे के अन्दर से झांकती दो आंखों ने एक बार सिर से लेकर पांव तक मेरा जायज़ा लिया और फिर अकस्मात् वे आंखें कैफे के बोर्ड से जा टकराईं। 'कैफे भागसू' शब्द मुंह से फूट पड़े। दीवारों पर झूलती बेलें और आसपास गमलों में रंगबिरंगे फूलों को देख अश्क जी बोले, 'जगह तो अच्छी है।'

सुदर्शन जी ने परिचय दिया और अश्क जी जगह को अच्छी बता रहे हैं। इस अदा के साथ परिचय को नज़रअंदाज़ कर गए जैसे सचमुच जानते ही न हों। जबकि पिछले दिनों हिंदी के वरिष्ठ समीक्षाकार डा. रणवीर रांग्रा के कार्यालय में अश्क जी से मुलाकात हुई थी। तब डॉ. रांग्रा केंद्रीय हिन्दी निदेशालय में निदेशक थे और वहीं देर तक साहित्य विषय पर हम लोग आपस में बातें करते रहे। उन्हीं दिनों दूसरी बार जब डा. रांग्रा किसी राज्यपाल के घर डेरा लगाए अश्क जी को मिलने गए तो मुझे भी साथ ले गए। दोनों बार मेरा परिचय उन्हें दिया गया था।

ताज्जुब हुआ, यहां मुझे पहचानने से क्यों इनकार कर दिया। चूंकि उनके विषय में काफी पढ़-सुन चुका था, इसलिए उपेक्षा के बावजूद मेरा सौजन्य बरकरार था। इस वक्त वे मेरे मेहमान थे। कुछ दूर से चलकर आए थे। यह तो उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। चाहें तो किसी अपरिचित से जन्मजन्मांतरों का परिचय गांठ लें, न चाहने पर चिरपरिचित को किसी बहाने नज़रअंदाज़ कर दें।

बाहर धूप तेज़ थी। मैंने कुर्सियां भीतर रखवा लीं और हम लोग कैफे के अंदर दाखिल हुए। बैठने के पूर्व वे दीवारों पर लगे चित्रों को देखते हुए निश्चित जगह आ खड़े हो गए। बोले, 'अच्छा बनाया है, पर है किसका?'

सुदर्शन जी ने बताया कि कैफे इन्हीं का है और बनाया भी इन्होंने है। मुझे कुछ संकोच भी हुआ, इसलिए कि दुकानदारी का वह काम न तो मेरे बस का है और न मैं ऐसा काम करना चाहता हूं। मैं स्पष्टीकरण देता कि इसमें मेरा कुछ नहीं है, बेटे ने ही यह सब कुछ किया है। लेकिन अश्क जी कब सुनने वाले थे। बोले, 'तुम तो कहानी लिखते हो?'

उनके लहजे से साफ जाहिर था कि कहानी लिखने वाले को कोई दूसरा काम करना ही नहीं चाहिए। कुछ कहता कि बीच में ही बोल पड़े, 'कैसे यह सब मैनेज कर पाते हो?'

प्रश्न पर प्रश्न दागना और दूसरे की बात सुनकर भी अनसुनी कर देना उनकी विशेषता है। मैं कहता कि मेरा इससे कोई लेना-देना नहीं,मात्र गर्मियों में घूमने-फिरने आ जाता हूं, पर कहता किससे... तीसरा प्रश्न आया, 'सालाना क्या इनकम हो जाती है?' अब वे पूरी तरह दुकानदारी पर उतर आए। उन्हें रोक पाने का कोई उपाय न सूझा तो मैंने कहा, 'अश्क जी! आपने भी दूकान लगाई थी पर शायद चली नहीं, इसीलिए बंद कर गए। पर अपनी दूकान इतनी जल्दी बंद होने वाली नहीं है।'

ओंठों पर मुस्कान लाते बोले, 'बंद करने की ज़रूरत भी क्या है। बैठे-बैठे चलाते रहो। प्रसाद जी परंपरा डाल गए। वे भी तमाखू की दूकान पर बैठा करते थे। तुम भी बैठो, हम तो उठ ही गए।'

इस बीच बैरे ने कॉफी और नमकीन लाकर रख दिये। मैंने कहा, 'लीजिए, अब हमारी दूकान का माल देखिए, कैसा है ?'

कॉफी का घूंट भरकर बोले 'इस वक्त कॉफी पीने का ही मन था। अच्छी बनाई है। टूरिस्ट अब यहां बहुत आने लगा है। जगह भी अच्छी है, और क्या-क्या इधर देखने का है ?....

'आज कॉफी पी लें, फिर जो है वह सब दिखा दूंगा। इस कैफ़े के पीछे एक नदी है। आस-पास जंगल, झरने आपको दिखाई पड़ेंगे। आगे कोई आबादी नहीं है...''

काफी खत्म होने पर नदी की ओर उन्हें ले गया। यकायक नदी पर बने झरने को देख वे खड़े हो गए। कभी जंगल और कभी झरने को ही खड़े-खड़े देखते रहे। मैं, सुदर्शन जी और वह तीसरा आदमी एक जगह इकट्ठे हो गए। प्रकृति के वे मनमोहक दृश्य किसी को सम्मोहित करने के लिए काफी थे। अश्क जी के सारे अंदाज़ और सभी अदाएं जैसे छूमंतर हो गईं। देर के बाद बोले, 'बहुत सुंदर'।

उनके लहजे से इस बार लगा कि मन की गहराइयों से यह वाक्य निकला है। सुंदर कहना उनकी एक अदा हो सकती है, लेकिन इस बार अदा न होकर सहज भाव था। प्रकृति का गुण है कि वह टेढ़े को भी सीधा कर देती है। असहज को सहज बना देना उसका धर्म है।

झरने का दृश्य सुंदर लगा और थोड़ी भावुकता भी चेहरे पर दिखाई दी। बोले, 'घूमने-फिरने के लिए अच्छा है, तुम यहीं रहते हो तो रोज यहां घूमा-फिरा करो। सेहत के लिए अच्छा रहेगा।'

'हम यहीं पड़े रहते हैं।' मैंने कहा, 'चांदनी रातों में देर-देर तक झरनों के किनारे बैठने की आदत-सी बन गई है। यहीं पत्थरों पर बैठकर मस्ती मारना....'

'कैसी मस्ती है भई, हमें भी बताओ!' बीच में ही बोल पड़े, संकोचवश सुदर्शन जी कुछ बोल न पा रहे थे। किंतु उनका साथी जो शायद अब तक अश्क जी को ठीक-ठीक समझ सका था, बोला, 'ये जिस तरह की मस्ती लेते हैं वह अब आपके बस का नहीं है जनाब!' कहकर मानो अश्क जी को चित्त कर दिया हो।

लेकिन चित्त पड़ जाने वाले अश्क जी नहीं हैं। बोले 'कैसी नासमझों वाली बात करते हो। अरे भई आदमी का जिस्म ही कमज़ोर पड़ता है, मस्ती लेने वाला तो छानकर ही रहेगा। सुना नहीं- गो हाथ में जुम्बिश नहीं आंखों में तो दम है...अरे बूढ़े हो गए तो क्या...'

क्षणभर हंसी से वातावरण गूंज गया। उस शाम बहुत रोकने पर भी वे लोग रुके नहीं, दुबारा आने का वादा कर लौट गए।

इस बीच दिल्ली से डॉ. बलदेव वंशी घूमते-फिरते वहां आ पहुंचे। मैंने अश्क जी के आने की सूचना दी तो, बोले, 'हां पता चला है कि नीचे लेखक-गृह में ठहरे हुए हैं।' मैंने कहा, 'यह कैसे हो सकता है। एक महीना हो गया है। ज़्यादा से ज़्यादा हफ्ते से अधिक वहां ठहरने की इजाज़त नहीं मिलती।'

'बल्लभ, तुम नहीं जानते अश्क जी को...सुना है पिछले सप्ताह मुख्यमंत्री उनसे मिलने

आए थे।'

'तब तो ज़रूर टिके होंगे।' मैंने कहा, डाक्टर वंशी ने बताया कि आज ही सुबह हिमाचल के किसी लेखक से मेरी मुलाकात हुई। वह अश्क जी को मिलने गया होगा, लेकिन उन्होंने मिलने से इंकार कर दिया। सुनते हैं, किसी को मिलने का समय नहीं देते। यह तो बड़ी ज़्यादती है यार....'

लेकिन कर क्या रहे हैं वहां बैठकर?...पूछने पर मालूम हुआ कि अपने पुराने उपन्यास 'गिरती दीवारों' का अगला भाग लिखना शुरू किया है और जब तक वह न लिखा जाएगा, वहीं रहेंगे। पूरे लेखक-गृह पर कब्ज़ा किए हैं, किसी दूसरे लेखक को भी वहां ठहरने की इजाज़त नहीं....'

...अरे इतना ही नहीं, हिमाचल अकादमी, शिमला से एक टाइपिस्ट मशीन के साथ बुला लिया है। लेखक-गृह के कर्मचारी पूरी तरह सेवारत हैं। खोज-खबर रखने के लिए अकादमी के सचिव सुदर्शन वशिष्ठ यदा-कदा चक्कर लगाते रहते हैं। इतने बड़े लेखक हैं तो सरकार इतना भी न करेगी? ... कौन लेखक सरकारी मेहमान बन सका है... और जब बन गया तो अपने उद्धार के साथ-साथ वह सरकार का उद्धार भी क्यों न करे.. शुक्र है, सस्ते में जान छूटी।

उस रात अश्क जी की ही चर्चा होती रही। मुझे बराबर याद आता रहा ... दिल्ली में मेरे मित्र श्रीपत रंय अक्सर कहा करते- 'यार बल्लभ, साहित्य के नौ-रसों में निंदा रस को भी मान्यता मिलनी चाहिए। निंदा करने-सुनने में भी रस की निष्पत्ति होती है।'

उस रात वंशी और मैं रस से सराबोर हो गए। लेकिन वह निंदा तो नहीं थी, व्यवहार में अश्क जी जैसे हैं, उसी का गुणगान हमने किया। उनके विषय में जो सुना, वही मेरे आश्चर्य का कारण बना था। जबकि इलाहाबाद का ही एक लेखक प्रतिक्रिया लेने अश्क जी के पास अपनी रचना छोड़ जाता है और लम्बी प्रतीक्षा के बाद जब उनकी प्रतिक्रिया नहीं पाता तो दुःखी हो एक दिन उनकी अनुपस्थिति में अपनी रचना उठा ले आता है। अश्क जी उसे चोरी के इल्ज़ाम में कोर्ट तक घसीट ले जाते हैं। बेचारे लेखक को अपना अपराध स्वीकार कर क्षमा याचना करनी पड़ती है, तब जाकर उनके पाशबंध से छुटकारा मिलता है।

इस तरह बातों-बातों में रात को ही डॉ. वंशी ने अश्क जी से मिलने का प्रस्ताव रखा। बोले, 'तुम्हें भी साथ चलना है।'

इंकार करते न बना। लेकिन वंशी के साथ होने से कई तरह की आशंकाएं उठ खड़ी हुईं। अश्क जी से मिलता-जुलता मिज़ाज डॉ. वंशी भी रखते हैं। वैसे दोनों दिग्गजों के बीच अंतर भी पर्याप्त है, पर उखाड़-पछाड़ के मुद्दों पर दोनों की प्रक्रिया एक जैसी है। मुझे लगा कि जैसे साहित्य के दो बिगड़ैल सांड़ों को सीधे-सीधे खुले मैदान में छोड़ा जा रहा है। सुबह धर्मशाला शहर में उतरे ही थे कि बस स्टैंड पर डॉ. बी.सी. खन्ना दिखाई दिए। खन्ना जी को छायांकन का शौक है। शाम को हॉस्पिटल से रुखसत पाते ही 20 हज़ार का कीमती कैमरा कंधे पर लटकाकर वे जगह-जगह घूमते दिख जाते हैं। वे ज़्यादातर चेहरों को ही कैमरे का निशाना बनाते हैं और उसका कमाल अनेक पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिल जाता है। हमने अश्क जी से मिलने की बात की तो वे तैयार हो गए।

जाकर चौकीदार से कहा कि हम लोग अश्क जी से मिलने आए हैं। उन्हें खबर दो, लेकिन उसकी भीतर जाने की हिम्मत न हुई। बोला, 'बाबूजी उनसे मिलना मुश्किल होगा। अभी-अभी दो

लेखकों को वापस लौटाया है। बिगड़ गए थे कि मैं फालतू लोगों को उनके पास भेज देता हूं।'

सुना तो डॉ. वंशी भड़क गए। बोले, 'तुम इतना भर बता दो कि दिल्ली से डॉ. बलदेव आए हैं। फिर देखते हैं। हम कोई आलतू-फालतू नहीं हैं।'

चौकीदार डरते-डरते भीतर गया और थोड़ी देर बाद उसने बगल वाला दरवाजा खोल दिया। अश्क जी ने चश्मा उतारकर देखा। बोले, 'अरे वंशी, तुम आए हो!' फिर मेरी तरफ देखा, 'तुमने भी आने को कहा था।' डॉ. खन्ना की वह पहली मुलाकात थी। हमने उनका परिचय कराया तो बोले, 'पूरा इंतज़ाम करके आए हो!' उस दिन सुदर्शन जी वहीं थे और उनका वह पत्रकार साथी भी....

बैठते ही 'गिरती दीवारों' की चर्चा शुरू हो गई। वही लिखने के लिए अश्क जी ने यहां डेरा लगाया था। अब तक कितना लिखा गया, आगे कैसे करना है... आदि तमाम बातें अश्क जी विस्तार से हम लोगों को बताने लगे। आने वाले पर यकायक यह बलात्कार जैसा असह्य हो उठा। वंशी से न रहा गया तो चुप कराते हुए बोले, 'अब रहने दीजिए अश्क जी! दीवारें तो गिरेंगी। कब तक पलस्तर लगाते रहेंगे।'

अश्क जी भड़क उठे। पूछा, 'क्या मतलब?' 'मतलब यह है कि हम आपसे मिलने आए हैं और आपने आते ही दीवारों की बात शुरू कर दी। मेहमान आता है तो पहले कुशल-क्षेम, चाय-पानी और नाश्ते के लिए पूछा जाता है। आपने पूछा?...'

'देखो वंशी!' बीच में ही अश्क जी बोल पड़े। 'हम भी बतौर मेहमान के यहां ठहरे हैं। तुम दिल्ली से आए हो तो हम तुमसे भी ज़्यादा दूर के मेहमान हैं। मेहमाननवाज़ी तो अपने घर पर होती है। यहां जैसे तुम वैसे हम...हां इलाहाबाद आओ, फिर देखो....'

मुलाकात की शुरुआत देखकर मेरी आशंका बढ़ गई। लेखकों के निराले अंदाज़ अबतक देखता आया हूं। जाने किस क्षण क्या हो। इन लोगों में कई बार तो बातें कलम या वक्तव्यों से समझाने वाली हैं, उन्हें हाथों से भी समझाया जाता है। कहीं वह नौबत न आ जाए।

अश्क जी को पहला झटका लग चुका था, जिसका असर जल्दी खत्म होने वाला है नहीं। बोले, 'तुम चाय-नाश्ते की बात करते हो, मैं यहां किसी को अंदर घुसने तक नहीं देता। गनीमत कि तुम भीतर आ गए। बाहर से ही लौटा देता तो ठीक रहता। मुझे तो भई, अपना काम करना है। देखते हो, दिन भर काम करता हूं, थक जाता हूं तो आराम करना होता है। मेरे पास समय ही कहां है फालतू लोगों से मिलने का...'

'तो हम फालतू हो गए?'

'फालतू नहीं तो क्या पालतू हो। इस तरह घूमने-फिरने वाले फालतू ही कहे जाते हैं। जिसके पास काम है, वह कैसे घूम सकता है?...'

वंशी के पास कोई उत्तर न था। अश्क जी ने वो पटकी दी कि वंशी चित्त।

कुछ देर नोक-झोंक चलती रही। बाद में चौकीदार को बुलाया, 'अरे भई देखो, ये लोग आए हैं तो कुछ चाय-पानी इनको दो। जल्दी छुटकारा मिले।'

'हम चाय नहीं पिएंगे।' वंशी बोले।

'फिर क्या पियोगे?'...पूछा

'जो आप पीते हैं, वही पिलाइए।' वंशी जैसे कि सब के बीच उनकी पोल खोलना चाहते

हैं।

मेज की आड़ में रखी वोतल निकाल अश्क जी ने सामने रख दी, 'लो पियो! तुम भी क्या याद करोगे।'

इस बीच नोक-झोंक का विषय परिवर्तन हुआ। घूम फिरकर बात कविता पर आ गयी। उसी दौरान वंशी ने नदी, पहाड़, जंगलों पर कुछ कविताएं लिखी थीं। अश्क जी को अपनी करवट ले आए, ताकि वे शांत मन उनकी कविताएं सुन लें।

वंशी द्वारा बांधी गई भूमिका से वे भांप गए कि अब कविता सुनाएगा। बोले, 'देखो भई वंशी! गीत-ग़ज़लें हमने भी लिखी हैं।'

'लिखी होंगी,' वंशी बोले।

.....'अरे होंगी क्या पहले से लिखता आ रहा हूं। यकीन नहीं तो सुनो।'

...'नहीं, पहले हमारी कविताएं सुनो! एकदम नई है"

नए की बात पर अश्क जी को ताव आ गया। बोले, 'तुम कब से कविता लिखने लगे?'

....'लिखता हूं न!' वंशी ने कई संग्रहों के नाम गिना दिए। बोले, 'अब ये नई कविताएं हैं पहाड़ों-जंगलों पर....'

'लेकिन भाईजान! मैं तो तुम्हें कवि मानता ही नहीं। तुम कवि हो ही नहीं सकते, चाहे कितनी ही कविताएं लिख लो।'

वंशी कुछ क्षण चुप रहे। कुछ सूझा नहीं तो बोले, 'मैं भी आपको गीत-ग़ज़लकार नहीं मानता। अब तो 'गिरती दीवारें' भी आपसे संभलने की नहीं। दीवारें अवश्य गिरेंगी।'

हम लोग तमाशाई बनकर बातों का मज़ा लेते रहे। किसी को कुछ बोलने का अवसर ही न मिला। बीच-बीच में हंसी-ठहाके चलते रहे। इस बीच डॉ. खन्ना ने उनकी आपसी नोक-झोंक इंगित-इशारों के कई दुर्लभ दृश्य कैमरा-बद्ध कर लिए। सारी नोक-झोंक के बावजूद लगा कि भीतर कहीं गहन अंतरंगता के साथ वे एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

फिर अचानक एक शाम सुदर्शन जी के साथ अश्क जी आते दिखाई दिए। आते ही वंशी के बारे में पूछताछ की। उस शाम पड़ोस के गांव में वंशी के रहने का कार्यक्रम बना था। बताने पर बोले कि मिलना ज़रूरी है। अगले दिन हिमाचल भाषा अकादमी की ओर से उनके सान्निध्य में एक दिन का कार्यक्रम बना था। अश्क जी अब धर्मशाला छोड़ने जा रहे थे। इस कार्यक्रम में हिमाचल के लेखकों-बुद्धिजीवियों को आमंत्रित किया गया था।

दो सत्रों में संपन्न होने वाले पहले सत्र, कथा-उपन्यास विषय की अध्यक्षता अश्क जी को करनी थी। अपराह्न कवि गोष्ठी के लिए वंशी की अध्यक्षता मनोनीत की गई। इसलिए उन्हें सूचित करना आवश्यक था। वंशी को वहां न पाकर वे निराश हो गए। मैंने कहा भी कि सुबह मैं उन्हें अपने साथ लेकर आऊंगा। मेरी बात पर उन्हें विश्वास तो हुआ लेकिन फिर सोचा, यदि कल भी वह न लौटा तो? ....

यों तो मुझे मालूम था वंशी कहां होंगे। मैंने उन लोगों को गाड़ी में बिठाया और निश्चय कर लिया, भले रात भर तलाश करनी पड़े, वंशी को खोज निकालेंगे। वहां से चार किलोमीटर दूर अंधेरे में सड़क के किनारे गाड़ी रोक हमने अश्क जी को वहीं रुकने के लिए कहा और पास वाले गांव में जा पहुंचे। दो-तीन घरों में आवाज़ लगाई...अंधेरे में मेरी आवाज़ पहचान घर के मालिक ने मुझे

भीतर बुला लिया। देखा वहीं चूल्हे के पास महफिल जमाए वंशी बैठे हैं। हमने बताया कि अश्क जी तुम्हें ढूंढते यहां आए हैं। आने का कारण भी बताया।

वंशी अपनी मस्ती में झूम रहे थे बोले, 'यार, तुमने रंग में भंग डाल दिया। तुम लोग जाओ। सुबह मैं वक्त से चला आऊंगा। ज़िंदगी में पहली बार ऐसी जगह पहुंचा हूं, गांव की आत्मीयता मिली। इससे बढ़कर भला और साहित्य क्या हो सकता है...' हम लोग वापस लौट आए।

कार्यक्रम के अनुसार अगले दिन पालमपुर पहुंचे। हिमाचल कृषि विश्वविद्यालय भवन के एक बड़े हाल में कथा-कहानी सत्र की अध्यक्षता करते अश्क जी ने पहले अपने संघर्षों की 'कहानी' शुरू की, जिसमें पाठक-वर्ग और समाज को लेखक की दुर्दशा का उत्तरदायी बनाया गया। इसके बाद प्रकाशकों की खबर ली गई और फिर साहित्य की खरीददारी में सरकार और अधिकारियों की समझ को कोसा।

इस कार्यक्रम में शिक्षक और अधिकारी वर्ग विशेष था। अपनी पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में न खरीदे जाने का हवाला देते हुए अश्क जी ने उन सभी लोगों को लताड़ते हुए मूर्ख की उपाधि से अलंकृत कर दिया।

सुनते वहां बैठे श्रोता-दर्शकों में कानाफूसी शुरू हो गई....यह कैसा लेखक है। सारे सरकारी नियम-बंधनों को एक किनारे रख हिमाचल सरकार ने इन्हें सम्मान दिया। दो महीने लेखक-गृह में सब तरह की सेवा-सुश्रुषा की। सरकारी व्यक्तिगत रूप में। जिन लोगों के ये संभव प्रयास रहे, उन्हीं को मूर्ख कहा जा रहा है।

श्रोताओं की आपसी बातचीत से स्पष्ट था कि यदि सरकारी स्तर पर वह कार्यक्रम न होता तो हर आदमी उठकर उसका विरोध करता, लेकिन किसी को कुछ कहने का अवसर न मिला। कुछ श्रोताओं ने हाल से बाहर निकल अपना मूक-विरोध अवश्य प्रकट किया।

शाम को कवि गोष्ठी में डॉ. वंशी की अध्यक्षता थी। लेकिन यह सब देखकर वह भी अध्यक्षता करने से इंकार कर गए।

लेखक ऐसे ही होते हैं- कहीं लेखक वर्ग पर यह तोहमत बनी रहे, सोचकर मैंने वंशी से कहा, 'तुम अध्यक्षता ज़रूर करो। बात अगर बिगड़ती है तो उसे बनाना भी लेखक का ही काम है।'

वंशी ने अध्यक्षता स्वीकार की। किंतु इसके पूर्व मंच से घोषणा करते हुए कहा कि 'अश्क जी हमारे बुजुर्ग और वरिष्ठ साहित्यकार हैं, हमारे मार्गदर्शक, शुभचिंतक सभी कुछ हैं...इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है। उनका लेखन ऊंचे स्तर का भी है, हमें उनसे और अधिक अपेक्षाएं हैं, किंतु यहां पहले सत्र में उनके द्वारा सभी के लिए जो आपत्तिजनक बातें कही गई हैं, हम चाहते हैं उनके लिए अश्क प्रायश्चित्त करें। उन शब्दों को मंच पर आकर वापस लें, ताकि कार्यक्रम को आगे बढ़ाया जा सके। इसी शर्त पर मैं गोष्ठी की अध्यक्षता स्वीकार करूँगा।'

हाल में सन्नाटा छा गया। जैसे सभी को यह प्रस्ताव मान्य था। अश्क जी को लगा कि प्रायश्चित्त के अलावा बचने का और कोई उपाय नहीं है। वे अपने दोनों हाथ उठाकर मंच की ओर बढ़े, धीरे-धीरे उनके हाथ जुड़ते चले गए। बोले, 'ठीक है, मैं अपने शब्दों को वापस लेता हूं। आप लोग कहें तो दंडवत होकर क्षमा मांग लूं।' कह कर वे मंच पर लेटना ही चाहते थे कि कई आवाज़ें एक साथ गूंज उठी। 'नहीं....नहीं, ऐसा न कीजिए।'

'आप लोग संतुष्ट हैं!'

'हां, पूरी तरह संतुष्ट हैं।'

'आपको संतुष्ट करना मेरा धर्म है। मैं किसी को नाराज़ नहीं देखना चाहता, पर सच तो सच है। जो मैंने कहा और जिसके लिए क्षमा-याचना करनी पड़ी है, उसमें रत्ती भर झूठ नहीं।'

उनके इस नाटकीय कथन पर पूरा हॉल तालियों से गूंज गया।

कैफे भागसू
भागसू नाग धर्मशाला

अश्क के पत्र

कैम्प : धर्मशाला
दिनांक : 7 जून, 1992

प्रिय वशिष्ठ जी,

यद्यपि बिना किसी अन्तराल के कांगड़ा, डलहौज़ी और पालमपुर की लगातार यात्राओं से मैं बेहद थक गया, अपनी ही मूर्खता और बदपरहेज़ी के कारण थोड़ा बीमार भी हो गया, लेकिन आपके साथ रहने की वजह से जो सुख मिला, जिस सुविधा से ये यात्रायें सम्पन्न हुईं और मैं जैसे अनुभव-सम्पन्न हुआ, उसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। केवल आभार ही व्यक्त कर सकता हूँ। शुभ कामनाओं के साथ।

साभार सस्नेह
उपेन्द्र नाथ अश्क

श्री सुदर्शन वशिष्ठ
सचिव,
हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी,
शिमला-171001.

दिनांक 22 जून, 9

कैम्प : धर्मशाल

द्वारा : ज़िला भाषा अधिकारी, धर्मशाल

ज़िला कांगड़ा, हि.प्र.-17621

प्रियवर वशिष्ठ जी,

आशा है यह पत्र आपको सपरिवार स्वस्थ और सानन्द पायेगा। यूँ तो मेरे उपन्यास के ती चैप्टर पूरे हो गए हैं और चौथा मुझे आज खत्म करना था। एक और दिलचस्प बात हुई है जिस व उल्लेख विस्तार से मैंने ललित जी के पत्र में किया है—यहाँ इतना ही कि पिछले कई दिनों से वच्चों के लिए कविताएं लिखने लगा हूं।

चूँकि विगत 70 वर्षों की काव्य-यात्रा में मैं हमेशा वच्चों के लिए कविताएं ही लिख चाहता रहा हूँ, लेकिन कभी सफल नहीं हुआ और अव लगता है जैसे वाल-काव्य का तूफान वेग से मेरे अन्तर में फूट पड़ा है।

मेरा ग्यारहवां काव्य-संग्रह समाप्त हो गया है और हिन्दी के वयस्कों के लिए मैंने का कविताएं लिख ली हैं। इसलिए मन यह भी कहता है कि अव मैं ज़िन्दगी के शेष वर्ष बच्चों के लि कविताएँ और कहानियाँ लिखने में गुज़ार दूँ।

मैं शिमला में आपको कुछ कविताएँ सुनाऊँगा। यदि आप लोगों को पसन्द आईं तो य करूँगा। यह चमत्कार कैसे हुआ आप धर्मशाला आयेंगे तो बताऊंगा।

आपने जो इन्टरव्यू लिखा था और मैंने धर्मशाला वर्कशाप के उद्घाटन पर जो भाषण दि था उन दोनों का कैसेट आपके पास था। उनका मुकम्मल आलेख तैयार हुआ है या नहीं ? न हु हो तो कृपया मेरे आने तक कर दीजिए। मेरे साक्षात्कारों के तीन संग्रह इसी वर्ष अगले महीने जायेंगे और आगामी तीन तैयार होंगे। मैं चाहता हूं कि आप वाला इन्टरव्यू अगले सैट के पहले ख के लिए तैयार कर दूँ।

आशा है आप इस सिलसिले में थोड़ा कष्ट ज़रूर करेंगे।

इधर 15 तारीख के बाद वर्षा कुछ ज़्यादा तेज़ हो गई है और मेरी दमे की तकलीफ भी ज़्यादा तंग करने लगी है।

डॉ. बंशी राम जी शर्मा को मेरी याद दिलाइएगा। उन्होंने कहा था 10-15 दिन तक वे पत्र लिखेंगे। मैं उनके पत्र की बाट देख रहा हूँ।

शेष मिलने पर। शुभ कामनाओं के साथ

सस्नेह सा

उपेन्द्रनाथ अ

श्री सुदर्शन वशिष्ठ

सचिव,

हिमाचल कला, संस्कृति और भाषा अकादमी, शिमला-1.

प्रियवर वशिष्ठ जी,

आप का 3 जून का कृपा पत्र यद्यपि बहुत देर से मिला था, क्योंकि वह जाने कैसे डाक में फट गया था और डी.एल.ओ. पहुँच गया था, जिन्होंने अलग लिफ़ाफ़े में बन्द करके मुझे भिजवाया था, लेकिन इस बात को भी एक महीना बीत चुका है। मैं बहुत बीमार हूं। दमे के दौरे-पर-दौरे पड़ रहे हैं। सोचा था- टाइपिस्ट को सीधा डिक्टेट करा दूँगा, लेकिन शहर के लोग सर्दी जुकाम खांसी बुखार से परेशान हैं, मेरा टाइपिस्ट भी एक महीने से बुखार में पड़ा है। सो हार कर फूली हुई सांस के साथ ये चन्द पंक्तियां लिख रहा हूँ। सारी रात सांस फूलती रही है। 5 बजे के बाद दो तीन घण्टे सोया था। सुबह से फिर वही हाल है। लेट सकता नहीं, किसी तरह खड़े-खड़े यह पत्र लिख रहा हूँ।

आप कल्पना ही कर सकते होंगे कि ऐसे में मुझे धर्मशाला की कितनी याद आती होगी। आप मुझे किसी अ.भा. स्तर की संगोष्ठी में बुलाना चाहते हैं। यह मेरे प्रति आपकी अतिशय कृपा है। मैं फिर कभी आपसे मिल सकूँ, या न मिल सकूँ, पर मैं आपकी और ललित जी की कृपा और स्नेह को कभी भूल न पाऊँगा।

जहाँ तक गोष्ठी में भाग लेने का सम्बन्ध है, इतनी लम्बी यात्रा केवल दो-तीन दिनों के लिए करना 83 वर्ष की उम्र और अस्वास्थ्य के साथ मेरे लिए कठिन है।

...मैं वास्तव में बहुत ज़्यादा बीमार हूं, लेकिन चूंकि निहायत सख़्त-जान आदमी हूँ, इसलिए जल्दी उठ जाता हूँ और काम करना तो बीमारी और कमज़ोरी में भी नहीं छोड़ता। यात्रा की बात दूसरी है। यहां घर बैठे-खड़े, लेटे काम करना होता है, वहां बीमार शरीर के साथ जाना होता है।

धर्मशाला के परिपार्श्व में 4 परच्छिेद लिखे हैं, बहुत अच्छे लिखे गए हैं। यदि ज़िंदगी में उपन्यास पूरा हो गया और छपने की भी बात हुई तो उसकी भूमिका में आप लोगों की कृपाओं का उल्लेख करना नहीं भूलूंगा।

ललित और रमण जी को मेरा नमस्कार दीजिएगा। सुभाष, जसरोटिया और संसालवी को याद दिलाइएगा। जसरोटिया से कहिएगा कि उसका और डाक्टर आनंद वाला संस्मरण मैं आजकल में लिखूंगा।

सस्नेह

उपेन्द्रनाथ अश्क

19-9-82

18.9.92

प्रियवर वशिष्ठ जी,

मैंने यहां आते ही, आप वाले इण्टरव्यू को रिवाइज़ करना शुरू किया और उसे काफ़ी बेहतर बना कर टाइपिस्ट को दे दिया था। वह टाइप होकर मेरे पास आ गया।

पुनः एक नज़र डालकर मैं आपको भेजने वाला था कि आपका 1 सितंबर, 92 का पत्र मिला डाक चूंकि समय से नहीं मिलती, इसलिए इस पत्र को आने में इतनी देर हो गई। जाने पत्र कहां पड़े रहते हैं। डाकखाने में छुट्टियाँ, हड़तालें होती रहती हैं और डाक का कोई पुरसा हाल नहीं है।

बहरहाल, इस पत्र के साथ मैं इण्टरव्यू भेज रहा हूँ। अब यह तो आपने लिया है, आप जो चाहें इसका करें।

सस्नेह,
उपेन्द्रनाथ अश्क

एक रात अश्क के संग

डॉ. सुशील कुमार फुल्ल

किसी भी साहित्य जिज्ञासु के लिए उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम ऐसे अनुभव संसार का पर्याय होता है, जिस में जीवन के अनेक रंग और व्यंग्य पात्रों के माध्यम से साकार होते हैं। संभवत: साहित्य की कोई ही विधा उन से अछूती रही होगी। इतना अवश्य है कि जितनी ख्याति उन्हें एकांकी, नाटक, कहानी-उपन्यास आदि के क्षेत्र में मिली, उतनी कविता के क्षेत्र में नहीं, जबकि वे काल-सृजन की अपनी गरिमा को जीवन के संध्यावसान के पूर्व काफी प्रचारित करने लगे थे तथा ज्यों ही अवसर मिलता एक एक घंटे तक अपनी कंठस्थ कविताओं को सुनाते रहते। शायद गद्य की बहुलता के अन्तर्गत कविता कहीं दब गयी थी।

बात 1991-92 की है। उपेन्द्रनाथ अश्क अकादमी के अतिथि के रूप में धर्मशाला ठहरे हुए थे, हिमाचल साहित्य कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी के लेखक गृह में। स्वाभाविक था कि इतना बड़ा लेखक आस-पास ठहरा हो, तो दूसरे लेखक भी वहां पहुंचते। एक अनौपचारिक कवि-गोष्ठी का आयोजन था। कविता और साहित्य पर बात-चीत थी, परन्तु मूलत: यह अवसर अश्क जी के लिये श्रोता जुटाने का ही था और बड़ी संख्या में लेखक वहां पधारे भी।

वह निस्संग वक्ता थे, मित्र थे, और स्नेही लेखक। बड़प्पन की विनम्रता उनके चेहरे पर झलकती थी।

कवि गोष्ठी हुई। हिमाचल के कहानीकारों की प्रतिनिधि कहानियों के संकलन 'धुंध में उगते सूरज' का विमोचन उनके हाथों हुआ। अश्क जी का काव्य-पाठ हुआ और सभा विसर्जित हो गयी।

मैंने लेखक-गृह में ही ठहरना था, उनसे और बातचीत की आकांक्षा थी। अकादमी के सचिव सुदर्शन वशिष्ठ भी कुछ देर तक वहीं बैठे रहे तथा अपनी आदत के अनुसार बीच में धीमा धीमा मुस्कराते भी रहे। संयोग से नीलाभ अश्क भी उस दिन वहीं थे।

रात बारह बजे तक उनसे बात होती रही। फिर सब सो गए। कोई आधे घंटे बाद अश्क जी ने मुझे जगाया तथा कहा- ओह! फुल्ल जी, मैं एक बात तो भूल ही गया। सोचा सुबह तक दिमाग से निकल ही न जाए, सो जगा दिया, बुरा तो नहीं लगा! फिर कोई आध-पौन घंटे तक बातचीत। फिर अचानक वे इलाहाबाद में कौशल्या जी से बात करने लगे।

वह शाम एक अद्‌भुत शाम थी मेरे लिये। छोटे शहर में या कहो जंगलों में रहने वाले लेखकों की बड़े लेखकों से मुलाकातें कम ही होती हैं..... और आम लेखक महानगर में जाकर उनसे मिलना भी चाहे ... तो बहुत लम्बी बातचीत संभव नहीं होती।

अश्क जी से यह मेरी दूसरी मुलाकात थी, कोई दस वर्ष के अन्तराल के बाद। उसी मुलाकात के कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं।

प्रश्न : आपने खूब लिखा है। क्या बहुत ज़्यादा लिखने से सृजनात्मकता का क्षरण नहीं होता? या उसकी गहनता खण्डित नहीं होती?

अश्क : गहरे कुंए में से पानी निकालने पर क्या उसकी मिठास नष्ट होती है? समुद्र में से एक बाल्टी पानी निकाल लेने पर क्या वह सूख जाता है?
लेखन तो एक नशा है। मैं लिखूंगा नहीं तो जीवित कैसे रहूंगा। यह तो मेरी धड़कन है। लेखन से मैं थकता नहीं हूँ। एक ज्वारभाटा होता है विचारों का, जो बाहर उमड़ना चाहता है। ज़्यादा लिखने से गहनता खण्डित होती है, यह मैं नहीं मानता। मैं तो इसे व्यवसाय की तरह मानता हूँ परन्तु इससे हिन्दी के लेखक की आजीविका पूरी कहां होती है?

प्रश्न : आपको तो खूब रायल्टी मिलती होगी?

अश्क : क्यों? क्या मैं विचित्र लोक से आया हूं।

प्रश्न : आपकी रचनाएं तो पाठ्य-पुस्तकों में संकलित हैं।

अश्क : संकलित तो हैं परन्तु रायल्टी कहां आती है। मेरी करोड़ों रुपये की रायल्टी बनती है परन्तु कहानी चुपचाप किताबों में चली जाती हैं। पारिश्रमिक की बात ही कोई नहीं करता।

प्रश्न : क्या इसी समस्या के समाधान के लिये आपने अपना प्रकाशन चलाया है?

अश्क : मैं तो लेखक हूँ। प्रकाशन के बारे तो नीलाभ जाने .... वैसे मैं भी जुड़ा हूं।
और हां, क्या यशपाल ने विप्लव प्रकाशन शुरू नहीं किया ... या प्रेमचन्द ने सरस्वती प्रैस ... हंस या राजेन्द्र यादव ने अक्षर प्रकाशन।

प्रश्न : क्या इससे लेखन में व्यवधान नहीं पड़ता?

अश्क : क्या लेखक ने जीना नहीं होता? उसका भी घर-परिवार होता है। सामाजिक दायित्व होते हैं। अपने प्रकाशन से अपनी इच्छानुसार पुस्तकें छापी जा सकती हैं। प्रकाशन पर खर्च भी बहुत आता है। ग्रन्थावलि तो छाप दी है परन्तु अब उसको बेचूं कहां?
क्या आप एक सैट अपनी लाइब्रेरी में खरीदोगे?

प्रश्न : ज़रूर! परन्तु क्या इस चिन्ता से सृजन में व्यवधान नहीं पड़ता?

अश्क : ज़िन्दगी में कितने ही व्यवधान होते हैं? फिर भी जो करना है, सो करना ही होता है। सृजन तो दबाव में भी जारी रहता है .... और कई बार तो किसी को सबक सिखाने के लिये भी कोई रचना बन जाती है।

प्रश्न : मैं समझा नहीं? आप का अर्थ व्यंग्य से है?

अश्क : व्यंग्य तो हर रचना में निहित रहता है। तुम्हें शायद अजीब लगे .... किसी ने मुझ पर व्यंग्य किया ... लाठियों के प्रहार की कोशिश की तो मैंने उसके परिवार पर ही एक उपन्यास लिख मारा। (ठठाक कर हंसते हैं अश्क)

प्रश्न : आप सुर्खियों में रहना पसन्द करते हैं?

अश्क : कौन नहीं रहना चाहता? क्या तुम नहीं रहना चाहते? आज तो लोग इसके लिए जुगाड़ करते हैं ..... आयोजन-संयोजन करते हैं। पहले ऐसा कुछ नहीं होता था। रचना ही

प्रमुख होती थी।

प्रश्न : तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन, दिल्ली (सन् 1983) में आपने खूब हंगामे किये थे। क्यों ?

अश्क : इंग्लैंड से आया हिन्दी लेखक गोरी चमड़ी के कारण सम्मेलन के आयोजकों को प्रिय लगा ... और सारी उम्र मरने-खपने वाला बूढ़ा मैं स्टेशन से धक्के खाता सम्मेलन में पहुंचूं।

फुल्ल जी, नामवर सिंह की अक्ल भी देखिए। मैंने मंच पर बोलने का समय मांगा परन्तु कोई बात ही न सुने।

(मुस्करा कर बोले ... तुम थे उस सत्र में... मेरे 'हां' कहने पर वह और भी मूड में आ गए।)

जब सत्रावसान हुआ ... लोग अभी बैठे ही थे ... मैं माईक पर चला गया .... और जो मन में था ... जो मैं महसूस कर रहा था कि मेरे साथ .... या मेरे जैसे भारतीय लेखकों के साथ अन्याय हुआ था .... वह मैंने वहां बोल दिया। मैंने कहा था ... मैं ऐसे आमंत्रण को सौ जूते मारता हूं ... विश्व हिन्दी सम्मेलन हो .... और वह भी भारत में ... उसमें भी बुजुर्ग हिन्दी लेखकों को सम्मान न मिले .... तो आयोजन का क्या फायदा ....

क्या हिन्दी का प्रचार-प्रसार अपने लेखकों की उपेक्षा करके हो सकेगा ?

अरे अपने ताम-झाम के विदेशियों को फंसाना है या अपनी विदेश-यात्रा का संयोग बनाना है, बनाओ पर हमें तो न सताओ।

मैंने ढेरों लिखा है..... और स्तरीय लिखा है ..... दुनिया मानती है .... तो क्या मैं नामवर से कम हूं ... (डा. नामवर सिंह तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के एक सत्र में मंच-संचालक थे।)

प्रश्न : 'सारिका' में आपकी एक कहानी 'तीन मिनट' प्रकाशित हुई थी ... बड़ा हंगामा हुआ था ... सेक्स सम्बन्धी प्रसंगों को लेकर। आप तो अपनी रचनाओं में सेक्स-प्रसंगों को पर्याप्त निमंत्रित रखते हैं .... तो तीन मिनट ....

अश्क : जीवन के कई रंग होते हैं। कोई गलत बात तो नहीं लिखी थी.... हां, चर्चा तो खूब हुई थी।

प्रश्न : 'डाची' और 'तीन मिनट' या 'कांकड़ा का तेली' में कोई अन्तर नहीं क्या ?

अश्क : अन्तर तो होगा ही। सृजन पारीकृत होने वाली निरन्तर प्रक्रिया है। क्या तुम चाहते हो मैं चक्रघिन्नी सा एक ही प्रकार के शिल्प और कथ्य में भटकता रहूं ?

प्रश्न : कौशल्या अश्क जी की एक कहानी 'किन्नी' पर जब मैंने अपनी प्रतिक्रिया भेजी थी ... शायद सन् 1976 में .. तो प्रत्युत्तर में आपने बम्बई से लिखा था ... समस्याएं तो वही रहती हैं ... कुछ बदलते हुए भी शाश्वत होती हैं। केवल ट्रीटमेंट का अन्तर होता है। क्या आज भी आप यही कहेंगे ?

अश्क : बिल्कुल। प्रस्तुति की मौलिकता ही रचना को सक्षम या अक्षम बनाती है। 'किन्नी' में भावुकता थी। बिन मां-बाप की बच्ची मामा के घर में उपेक्षा या टपर-टपर आंसू बहाती है.... यह स्थिति कहीं भी ... और कभी भी हो सकती है। भावनाएं ही तो अन्ततः मनुष्य

जीवन का सार हैं।

प्रश्न : घर से बाहर आकर उपन्यास-लेखन या रचना संभव है ?

अश्क : क्यों नहीं ? मुझे आजकल लिखने में थोड़ी दिक्कत होती है क्योंकि अंगुलि में गड़वड़ है। यहां आशु-लिपिक मिला है ... एक उपन्यास तो लिखूंगा ही।

प्रश्न : आप किसी ग्रुप से नहीं जुड़े ?

अश्क : क्या ज़रूरत है ? लेखन ही वास्तविक पहचान बनाता है। बाकी उछल-कूद तो अस्थायी होती है। वैसे भी खूंटे से बंधकर लिखना मुझे कभी अच्छा नहीं लगा।

प्रश्न : निर्गुटिया होने से पहचान में देर तो लगती है ?

अश्क : कुछ सीमा तक। फिर आदत बन जाती है।

अश्क को लेकर अनेक प्रश्न हवा में टंग गए थे... एक ऐसा व्यक्तित्व जो सम्मोहक था .. आत्मीय था ... बेबाकी से प्रश्नों का उत्तर देता ... उत्कंठा से भरपूर ... जो मन में आ गया .. तुरन्त हो ... उन्मुक्त मुस्कराहट ... जो अश्क की शताधिक रचनाओं में बिखरी पड़ी है .... तथा शाश्वत थाती के रूप में आने वाले समाज का भी पथ आलोकित करती रहेगी।

आचार्य एवं अध्यक्ष,
भाषा विभाग, कृषि विश्वविद्यालय
पालमपुर-176 062

अक्सर याद आते हैं उपेन्द्रनाथ अश्क

डॉ. गौतम 'व्यथित'

दूरदर्शन ने दिया अश्क के निधन का समाचार और दिखाई अस्पताल में बिस्तर पर अन्तिम छटपटाहट, तो सहसा आँखों के सामने सिर पर हिमाचली टोपी पहने, होंठों पर व्यंग्यात्मक मुस्कान लिए अश्क के अनेक संस्मरण उभरते चले गए। उन्होंने वर्ष 1992 में धर्मशाला (कांगड़ा) के लेखकगृह में लम्बा अरसा काटा था। वे अपने व्यवहार, साहित्यिक उपलब्धियों तथा बहुमुखी व्यक्तित्व के कारण कुछ ही दिनों में चर्चित होने लगे थे, नगर में। दूरपार के साहित्यकार, पत्रकार, प्रशासक भी जुड़ गए थे उनमें किसी न किसी कारण। वैसे भी उनमें अपनी चाहत के लोगों को जोड़ने का गुण भी था। महाविद्यालय की सड़क लेखकगृह के सामने से गुज़रती, अत: दूसरे तीसरे दिन मिल लिया करता सरसरी तौर से। अक्सर वे बहुत कम समय देते मिलने वालों को। 'गिरती दीवारें' उपन्यास के अन्तिम भाग को पूरा करने के मकसद से आए थे धर्मशाला। मकलोडगंज, भागसूनाथ, फरसेटगंज, कोतवाली बाज़ार, सिविल बाज़ार आदि स्थानों की पुरानी यादें बटोरनी थीं, इसलिए राणा रघुवीर सिंह आदि के सहयोग की ज़रूरत थी उन्हें।

दिन रात व्यस्त रहते लिखने में। पढ़ने के लिए विशेष लेन्स का प्रयोग करते, बारीक अक्षर भी मोटे-मोटे दिखाई देते उससे। बेचारा देवराज संसालवी तंग हो जाता उनके नोट्स टाईप करता-करता। परन्तु विवश था, ऊपर से आदेश ऐसा था कि अश्क जी को गुस्सा न आ जाए। वैसे भी बड़े गुस्सैल थे अश्क। अस्मिता पर कुर्बान होने वाले। ज़िला भाषाधिकारी सुखदेव शर्मा को हर समय भय रहता- कहीं अश्क नाराज़ हुए तो ऊपर से एक्शन हो जाएगा। कभी-कभी बच्चों जैसा स्वभाव लगता उनका। कुछ उम्र का तकाज़ा, कुछ साहित्यिक खेमों के प्रति रोष, कुछ परिवार की समस्या। कभी-कभी अकेले से पड़ जाते अश्क। लेकिन लेखनी अस्त्र को हाथ में लिए निरन्तर संघर्षशील रहते। बहु आग्रामी साहित्यकार थे अश्क। स्थानीय साहित्यिक संस्थाओं ने उनके सम्मान में काव्य-संध्या का आयोजन किया। बी.के अग्रवाल (तत्कालीन अतिरिक्त ज़िलाधीश) डॉ. बलदेव वंशी, तथा नीलाभ भी थे उसमें। सबसे खूब खुलकर बतियाए थे अश्क उस शाम। हिमाचली परिवेश से जुड़ी कविताएं भी सुनाईं। वर्षों पहले रची कविताएं कण्ठस्थ थी उन्हें। अपने ही अंदाज़ में सुनाई थीं कविताएं। सम्मोहनी प्रभाव रहा मेरे मानस पर, देर तक उन कविताओं का।

उन्हीं दिनों एक रात मुझे विवशतावश ठहरना पड़ा था लेखकगृह में। दस बजे के करीब पहुंचा था वहां। चौकीदार को बताकर चुपके से कमरे में चला गया। थोड़ी देर बाद किसी ने द्वार खटखटाया। मैंने कह दिया- खुला है। आँख उठाकर देखा तो अश्क जी। प्रणाम करने के लिए झुका तो बांहों में समेट लिया। मैं चकित था- आज अश्क जी इतने संवेदनशील क्यों हैं ? बिस्तर पर बैठते

हुए देसराज को आवाज़ लगाई- अरे दो प्याले चाय के तो बना! एक में चीनी कम। और सुनो! देवराज को कहना कागज़ टाईप करके सोए। अभी बड़ा काम पड़ा है। दिन को दो-तीन ऐसे बेमतलब के मिलने वाले आ गए- उठने का नाम ही नहीं लिया। पता नहीं ऐसे लोग यह क्यों नहीं समझते अश्क इतनी दूर आकर क्यों बैठा है- एकदम परिवार से अकेला, बीमारी और बुढ़ापे में। एक दो बार बात-बात में खीझ भी दिखाई परन्तु उस भाषा को भी नहीं समझ सके। एक ने दो-तीन पाण्डुलिपियां खोल दीं मेरे सामने। बड़ी मुश्किल से टाला। कमीने ने अकेले ही लगा रखी थी।

उस रात एक बजे तक बैठे रहे मेरे पास। मूड में थे। बीते जीवन की बातें टेर दीं तो मुखर हो उठे। न स्वास चढ़ने का भय न खाँसी की याद। बड़ी बातें की उस रात। अज्ञात इतना अपनापन क्यों दिया था अश्क जी ने। कविता रचने की बात चली तो कहते मैंने नवम्बर, 57 को कविता लिखी थी 'टेरता पाखी'। और सुनाने लग पड़े-

टेर रहा है / घाटी में आतुर वनपाखी
लगातार वह टेर रहा है
एकाकी, आकुल वनपाखी।

वे बता रहे थे सन् 1958 में डल्हौज़ी ठहरा, नोवेल लिखने की गरज़ से। मेरे मन में अनायास कविता बनकर उतरा वहां का पहाड़- कविता क्या एक ज़मीन है- पूरी ज़मीन है, उपन्यास की, पहाड़ों के यथार्थ की। कहते-कहते सुनाने लगे वहां पर रची कविता- 'बकरोटे की ढलान पर'-

बकरोटे की इस ढलान पर
दुर्दिन में जो किसी अभागे की किस्मत सी .....

वे कहने लगे- मेरी कविताओं में स्टोरी का एलिमेंट होता है। कई बार यही एलिमेंट मेरा उपन्यास बन जाता है। नाटक का रूप ले लेता है। बाढ़ आती है किनारे तोड़ देती है, खेतियां खराब होती हैं, घर बह जाते हैं- ऐसे ही मेरे मन में विचारों की बाढ़ आती है। तब पागल हो जाता हूं- विधाओं की नहरें खोदता हूं- यही इलाज है मेरे पागलपन का, और इतने भावविभोर हुए कि बीच-बीच में गज़ल के शेर भी सुनाए-

कोई रफीक नहीं हमनवा नहीं कोई
यह ग़म वो ग़म है जिसकी दवा नहीं कोई।
ज़हर जिसका सितम हो करम के पर्दे में
सितम ज़िरीफ खुदा से बड़ा नहीं कोई।
तमाम उम्र रहे कोसते ज़माने को
पलट के देखा तो हम से बुरा नहीं कोई।
जो अश्क आँख पे आये हैं कुछ तो हसरत है
हज़ार बार कहो मुद्दआ नहीं कोई॥

पता नहीं इतने में विह्वल क्यों हो उठे थे उस रात, अश्क। चाय की चुस्कियों में आंसु निगल रहे थे जब वे कहते-

कैदे हयात तो बन्दे ग़म असल में दोनों एक हैं
मौत से पहले आदमी ग़म से निजात पाए क्यों।

तो चाईल्ड साईकोलोजिस्ट हूं किरदार का बिहेवियर बदल देता हूं। गिरिजा कुमार माथुर की चर्चा चली जिसने अल्का जी सें सलाह लेने को कहा। लेकिन जब उससे मिला तो मुझे लगा वह एक डायरैक्टर है प्ले राइट नहीं। तीन महीने तक जुड़ा रहा उससे परन्तु जब अकादमी की घटना घटी तो मतभेद हो गया।

एक के बाद एक, अनेक प्रसंग सुनाए उन्होंने अपने जीवन के। मुझे लगा वे साहित्यिक खेमों से सख्त नाराज़ थे। साहित्य अकादमी पुरस्कारों की बांट से बड़े ख़फा थे। वे बार-बार कहते- हिन्दी वाले अश्क को समझते नहीं मोहन राकेश, सुरेश अवस्थी और नेमी चन्द्र की प्रासंगिक बात चली तो कहने लगे- आई लव राकेश।

जनवरी 4, को इलाहाबाद ठहरा, गंगासागर, पुरी आदि स्थानों की यात्रा से लौटता हुआ। पूर्णिमा को प्रयाग राज का स्नान था। स्वर्णा और दुर्गेश साथ थे। एक-दो बार प्रसंग भी चला अश्क जी का। परन्तु उन से मिलने की इच्छा बीच में रह गई। अश्क जी चले गए। उनका एक शेर याद आया-

इलाहाबाद वालो याद रक्खो
करोगे याद हमको, हम न होंगे।

राजमंदिर नेरटी (कांगड़ा)

अब नहीं आएंगे अश्क

डॉ. प्रत्यूष गुलेरी

इस वर्ष जनवरी में गुजरात की यात्रा पर था मैं। जूनागढ़ में मेरे बेटे विशाल ने बताया—''पापा अश्क जी सख्त बीमार हैं। अपने कानों से खबर सुनी है मैंने।'' उसने रेडियो मेरे हाथ में थमाते हुए कहा — ''खबरें विस्तार से आने वाली हैं।'' बेटी अदिति बोली— ''ठीक हो जाएं अश्क जी।'' अश्क जी से मेरा पूरा परिवार मिल चुका था जब वे मई 1992 में हिमाचल प्रवास पर धर्मशाला ठहरे। हम सबने उनके स्वस्थ होने की कामना की। अश्क जी के साथ गुज़ारे दिनों की स्मृतियों ने आ घेरा।

बचपन में मैंने उनकी कहानी 'डाची' को न जाने कितनी बार पढ़ा था। हर बार पढ़ने में नया मज़ा देती रही। प्रभाकर करते समय उनका नाटक 'अलग-अलग रास्ते' पढ़ा। उसके पश्चात् उनका एकांकी 'अधिकार का रक्षक' भी पढ़ा और पढ़ाता भी रहा। धीरे-धीरे अश्क जी के कथा साहित्य और उपन्यास साहित्य ने मुझे कितना आकर्षित किया कह नहीं सकता। कोई दस वर्ष पहले जब मैंने हिन्दी कथाकारों की कहानियों का पहाड़ी अनुवाद करने की योजना बनाई तो अपनी पसंद की कहानी 'डाची' को भी चुना। अश्क जी को पत्र लिखा उन्होंने इलाहाबाद से तत्काल अनुवाद की आज्ञा प्रदान कर दी।

धर्मशाला में उनके आने की खबर कालेज में मिली तो मैं प्रसन्न हो उठा। प्रसन्नता का कारण था अश्क जी से आमने-सामने मिलना। थोड़ा उत्साह ठंडा भी हुआ यह सुनकर कि अश्क जी से मिलने के लिए पहले समय मांगना पड़ेगा। ज़िला भाषा अधिकारी श्री सुखदेव शर्मा जी ने यह भी बताया कि उनका सारा कार्यक्रम अनिश्चित सा है। आप मिलना चाहें तो लेखक गृह में चौकीदार हरिसिंह से कहकर मिल भी सकते हैं। कालेज से एक दिन निवृत्त होकर कोई तीन बजे मैं लेखक गृह में गया। हरिसिंह से पता चला कि अश्क जी अभी खाना खा चुके हैं। मैं उन्हें आपके आने की सूचना देता हूं। मैंने एक स्लिप पर अपना नाम लिख कर दिया। मुझे बाहर सुनाई पड़ रहा था— ''तत्काल भेजो उन्हें अन्दर।'' एक दुबला-पतला, हंसता-मुस्कराता-खिलखिलाता लम्बे कद काठ का चेहरा मेरे स्वागत के लिए चारपाई से उठ खड़ा हुआ।

तो आप हैं प्रत्यूष गुलेरी। मेरी कहानी 'डाची' का पहाड़ी अनुवाद करने वाले। सच बोल रहा हूं क्या?

दस वर्ष पहले की याद अश्क जी को ज्यों की त्यों बनी थी। 'उसका क्या हुआ भाई? आपने पता भी नहीं दिया।' ''बस पुस्तक आने वाली है। कुछ व्यवधान ही ऐसे रहे। यूं पत्रिकाओं में अनुवाद छप चुका है।' मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए बताया। फिर उनसे बीच-बीच में मिलने का सिलसिला शुरू हुआ तो रुका नहीं। कई बार संदेश देकर भी बुलाया। इस बीच में मैंने साक्षात्कार की तमन्ना ज़ाहिर की। उन्होंने सहर्ष बहुत कुछ विस्तार से बताया। एक अलग कॉपी में

मैंने उन संस्मरणों को लिख लिया। फोटोग्राफर की दुकान तक साथ चलकर गए। वो अश्क जी चार कदम बाहर निकलने के लिए डीएम से गाड़ी की मांग करते। अनेक सारी मुद्राओं में पांच सात फोटो खिंचवाए। थोड़ा बाज़ार घूमे। थम्स अप मांगा। चाय नहीं लेता हूं। यही नहीं उनके प्रति मेरी गहन श्रद्धा तब और भी बढ़ी जब एक दिन बिना किसी निर्धारित कार्यक्रम के शाम 5 बजे लेखक गृह से पैदल चलकर मेरे निवास पर पहुंच गए। चौकीदार हरिसिंह उनके साथ था। आंगन में बैठ गए एक बार ज़ोर की आवाज लगा कर— "प्रत्यूष! प्रत्यूष!" बाहर निकल कर क्या देखता हूं दुबला-पतला शरीर लेकर अश्क मेरे आंगन के गेट को लांघ कर बैठ गए थे। सांस फूल रहा था। मैं घबरा गया —"अश्क जी, मैं आपको स्कूटर पर ले आता। यह आपने क्या किया?"

उठ गए तपाक से कहा— "अश्क अपने मन का है। मन की करके हटता है।" मैंने कहा था न— "मैं तुम्हें सरपराईज़ दूंगा। मैं जब कभी भी अपने मित्रों के, साथियों के, साहित्यकारों के पास आता हूं तो लेखक अश्क को टेबुल पर छोड़ आता हूं।" बड़े सहज और आत्मीय लगे थे अश्क मुझे तब। मेरे बाल बच्चे और श्रीमती ने लपक कर अश्क का स्वागत किया। बहुत देर तक साहित्यिक वातावरण बना रहा था। इस बीच उन्होंने कहा — "थम्स अप लेता हूं।" मैंने कहा— "थम्स अप ही पिलाऊंगा।" वे हंसे— "तुम बहुत कुछ जान गए हो।"

इस दिन ही वे मुझे कोतवाली ले गए। सहर्ष स्कूटर पर सवार हुए। बहुत सवारी की है। उन्होंने कहा। उपन्यास का बहुत कुछ छूट रहा है। थोड़ा सा स्पॉट दिखला कर लाओ। एक झलक ली थी उन्होंने कोतवाली से कोई फर्लांग भर कैंट को जाते हुए। वापिसी पर थम्सअप लिया। अगले दिन मुझे कहा — "दांत दिखाना है डॉ. को। अगर डी.एम. ने गाड़ी भेज दी तो ठीक है नहीं तो तुम्हें कष्ट दूंगा।" साक्षात्कार के दौरान उन्होंने पूछने पर बताया— "दो सौ से ऊपर प्रकाशित कहानियां हैं। कहानियों में 'पिंजरा', 'खिलौने', 'डाची', 'ये इन्सान', 'कांकड़ा का तेली', 'चित्रकार की मौत', 'एक उदासीन सांझ' मुझे पसंद हैं। 'आकाश चारी' और 'अजगर' ऐसी व्यंग्य कथाएं हैं जिनके कारण हंगामा खड़ा हो गया था।

अश्क कहते थे अगर प्रयाग के साहित्यकार मुझसे खफ़ा हैं तो मैं उनसे कई गुना खफ़ा हूं। प्रयाग में खूंटा गाड़ दिया है। यह उखाड़ने पर भी नहीं उखड़ सकता। पाश्चात्य नाट्य तंत्र पर अश्क जी की अच्छी पकड़ थी। अपने समय के उत्कृष्ट कलाकार रहे। यही कारण है कि इनके एकांकी अधिकतर अभिनेय हैं। समस्याओं के प्रति एक स्पष्ट दृष्टि, चरित्रों का यथार्थ, तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण, सामाजिक जीवन के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति और प्रगतिशील दिशा दृष्टि अश्क जी के एकांकियों की निजी विशेषताएं हैं। 'देवताओं की छाया में', 'चरवाहे', 'तूफान से पहले', 'पर्दा उठाओ-पर्दा गिराओ', 'पक्का गाना', 'साहब को जुकाम है', बड़े चर्चित एकांकी संग्रह हैं। 'कैद और उड़ान', 'छटा बेटा', 'स्वर्ग की झलक', 'अलग-अलग रास्ते', 'अंजो दीदी' और 'भंवर' आदि विशिष्ट नाट्य कृतियां हैं। अश्क जी का मानना है कि 'पत्थर अल पत्थर', 'बड़ी-बड़ी आंखें', 'गर्म राख', 'निमिशा', 'शहर में घूमता आईना' और 'गिरती दीवारें' ख्याति प्राप्त उपन्यास हैं।

वे स्वभाव से कोमल और कठोर दोनों तरह के लगे। वे स्वयं कहते थे— "बहुत बोलता हूँ"। विवेकानन्द का एक नया सूत्रवाक्य गांठ बांधा था — "मैं खुदा हूँ। यह सारी सृष्टि अपरिमेय ने बनाई है। अगर वह सबमें है तो मुझमें भी है। हूं तो मैं उसी अपरिमेय का अंश। फिर किसी दूसरे

को क्यों पूजूं? पिच्छलग्गू क्यों बनूं? कर्तव्य की पूजा करो। उसमें आप संलिप्त न रहो।''

अश्क अपने पिता को अपना गुरू मानते थे। अपने पिता की कई आदतें पसंद न थीं किन्तु जो तमीज़ का एक गुरूमंत्र दे गए उसे नहीं छोड़ा।वे स्मरण शक्ति को बढ़ाने के फार्मूले बताते थे। दस बातें ऐसी बताई थीं जिनमें नौ सच्ची थीं और एक आधी सच्ची। आधी सच्ची को लेकर उन्होंने बताया — 'बांधो न नाव इस ठांव' उपन्यास लिखा।

अपनी रचना प्रक्रिया को लेकर उन्होंने बताया— ''उर्दू की ग़ज़लों से लिखना शुरू किया। वकालत तो रास नहीं आई। मिलाप और प्रताप तब छपा जब 17 वर्ष का था। हिन्दी में विधिवत् 1933 में लिखना शुरू किया। प्रेमचन्द चाहते थे मैं जागरण और हंस के लिए लिखूं। ज़िद्दी था। हिन्दी सीखनी शुरू कर दी। आज जो हूं सबके सामने है। हरिकृष्ण प्रेमी से मिला तो रोला छन्द सीखा। बाद में 15 कविताएं मैंने इसी छन्द में लिख डालीं। वे विशाल भारत के मुख पृष्ठ पर छपीं। डाची कहानी जिसका आपने पहाड़ी अनुवाद किया है 1937 में विशाल भारत में छपी थी।'' वे कहा करते थे— ''सीखने वाली बात कहीं से मिले उसे सहर्ष अपना लेता हूं। यहां तक कि अपने बच्चों से भी सीखता हूं। चेतना के द्वार मेरे खुले रहते हैं। शायद इसीलिए बेशुमार याद रहता है।'' मैंने जीवन की अविस्मरणीय घटनाओं की तरफ उनका ध्यान आकृष्ट किया तो कहने लगे— ''पहली पत्नी शीला नहीं मरती तो इतना बड़ा लेखक न होता। दूसरे भगवान की दी हुई रोशनी न होती तब भी इतना न लिख पाता जितना लिख रहा हूं। 50 वर्ष से कौशल्या जी के साथ हूं। नीलाभ प्रकाशन के माध्यम से उन्होंने मुझे सब तक पहुंचाया है। अब तो पक्षाघात की शिकार है बेचारी। पहली पत्नी के दो लड़के श्वेताभ और अनुराग हैं। दूसरी से एक लड़की और तीसरी कौशल्या से नीलाभ है।

नए कथाकारों को अश्क जी आप क्या परामर्श देना चाहते हैं मैंने जिज्ञासावश पूछा। तो कहने लगे— ''उन्हें तमीज़ पैदा करनी चाहिए कहानी की। कथानक ऐसे चुनें जो अमरत्व लिए हों। ऐसे जैसे गुलेरी जी की 'उसने कहा था' का है। नए कथाकारों को 50 अच्छी कहानियां पढ़नी चाहिएं। उन्हें यह देखना चाहिए कि रुचि-शुचि की उनके अनुकूल कौन सी कहानियां निकट पड़ती हैं। तब लिखना शुरू करना चाहिए।''

सहमते हुए जब उनसे पूछा गया— ''कुछ वर्ष पूर्व अखबारों में छपा था—आपने चूने की दुकान खोल ली थी। क्या यह सच था?'' अश्क हंस उठे— ''चूने की तो नहीं जनरलज़ मर्चेंट्स की थी। वह भी अपने बंगले में। इसमें कोई बुराई नहीं थी। मैंने तो अखबारें बेची हैं, रुमाल बेचे हैं। यह कहो कि दुनिया भर के सब काम किए हैं। सब काम कर सकता हूं अब भी। नकलें सुना सकता हूं।'' और उन्होंने कुछ नकलें उतार कर सुनाई तो मैं दंग रह गया। वे बोले— ''हरफ़न मौला हूं। पत्रकारिता मेरा प्रिय व्यापार रहा है। फिल्मों के गाने लिखे और रेडियो का प्रोड्यूसर भी रहा। तुम्हारे बालगीत सुनकर सुखद संयोग है कि मैं इस ओर लगा हूं और निरन्तर लिख रहा हूं। नहीं तो 70 वर्ष से बालगीत लिखने की सोचता रहा।'' जो भी लिखा है अश्क ने उसे वे सहज स्फुरण का परिणाम मानते थे। अश्क को एक नहीं अनेक सारी कविताएं कंठस्थ थीं। कहानियों और उपन्यासों के प्लाट, संवाद वे झूमते हुए सुना सकते थे। वे कहते थे— ''फोटोजनिक मेमोरी रखता हूं। तुम कहो तो 'बकरोटे की ढलान' कविता सुना सकता हूं जो हिमाचली परिवेश से जुड़ी थी।'' बहुत देर तक कविताएं सुनाने का सिलसिला चला तो चलता रहा। ग़ज़ब की स्मरण शक्ति थी उनमें। 19 जनवरी 1996 को अश्क जी के निधन का समाचार दूरदर्शन पर आया तो उसने हिलाकर रख दिया।

मृत्यु से जूझते हुए उनसे पूछा जा रहा था— ''लिखने को मन करता है ?'' तो वे हामी भरते हुए सिर हिलाते दिखे। बड़े जीवट वाले थे अश्क जी। अब नहीं आएंगे मेरे निवास पर— मेरे मुंह से निकला। उनकी रचनाओं की आहटें मैं भुला नहीं सकूंगा।

हिन्दी विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
धर्मशाला (हि. प्र.)

मौसम के साथ बदलते अश्क

सुखदेव शर्मा

मई, 1992। धर्मशाला में मौसम काफी गर्म था। शिमला से फोन आया कि साहित्यकार श्री उपेन्द्रनाथ अश्क लम्बे समय के लिए धर्मशाला के संस्कृति सदन में ठहरेंगे। अत: इनके लिए आवश्यक प्रबन्ध कर लिए जाएं। संस्कृति सदन में पहले भी कई साहित्यकार देश के विभिन्न भागों से आकर ठहरते थे। अत: मैंने इसे अति गम्भीरता से न लेते हुए सामान्यत: प्रबन्ध कर लिए। निर्धारित तिथि पर भाषा-संस्कृति निदेशक श्री ललित जी तथा अकादमी के सचिव सुदर्शन वशिष्ठ अश्क जी को लेकर संस्कृति सदन में पहुंच गए। औपचारिक मुलाकात के बाद आगामी प्रवास को लेकर अश्क जी ने अच्छा खासा लैक्चर दे डाला। अकादमी के बजट को मन ही मन याद करके चिन्तामग्न हुआ परन्तु विभाग और अकादमी के उच्चाधिकारियों को सामने पाकर संतुष्ट भी हुआ कि वे सारी व्यवस्थाएं कर जाएंगे। इसी सोच में शुरू हुआ अश्क जी से निरन्तर सम्पर्क का सिलसिला।

अश्क जी ने संस्कृति सदन में अपने कक्ष में कब्ज़ा करते ही उसमें विभिन्न साज सज्जा के आदेश दे दिए। एक ऊंचा टेबल लिखने के लिए — उसी ऊंचाई की कुर्सी। टेबल पर दो-दो लैम्प 100 वाट बिजली के । अन्य छोटी मोटी वस्तुएं इसके अतिरिक्त, कमरों में नए पर्दे — अन्य अनेक आदेश। उन्हें पूरी तरह स्थापित होने के बाद एक हिन्दी का टाईप राईटर और आशुलिपिक — तत्काल चाहिए थे। वशिष्ठ जी से फोन पर तुरन्त बात हुई तो बताया — अकादमी से भेजने में कुछ समय तो लग जाएगा तब तक वहीं इन्तज़ाम कर दें। एक दो दैनिक वेतन भोगी अश्क जी के स्टैंडर्ड के अनुसार नहीं निकले। अपने कार्यालय की प्रशिक्षिका को कार्यालय के समय में भेजा — उसके कार्य से वे संतुष्ट लगे परन्तु पांच बजे के बाद रुकने के लिए कहने लगे— "जब तक लिखाने का मूड होगा, इसे रुकना होगा।" परन्तु सरकारी कर्मचारी तो पांच बजे तक ही मुश्किल से कार्यालय में बैठते हैं, उस पर भी महिला कर्मचारी, सायं पांच बजे के बाद कैसे ? वह अश्क जी के उपन्यास की डिक्टेशन लेने पर राज़ी नहीं हुई। अगले दिन प्रात: जब उनसे मिला तो एकदम फूट पड़े —"मैं यहां पर उपन्यास लिखने के लिए आया हूँ, कोई आराम करने को नहीं। यदि मुझे टाईपिस्ट ही न मिल पाया तो मैं काम कैसे करूंगा। जो टाईपिस्ट आपने भेजी, वह पांच बजे ही घर को चली गई। तब तो मैं उपन्यास का प्लाट ही तैयार कर रहा था।ऐसे तो काम नहीं चलेगा।" मैंने समझाया, स्थिति बताई, व्यवस्था का विश्वास दिया परन्तु परिणाम शून्य। अश्क जी ने लम्बा पत्र तत्कालीन जिलाधीश तथा वशिष्ठ जी को लिख दिया। तीन चार दिनों के बाद अकादमी के टाईपिस्ट देवराज संसालवी आ गए और अश्क जी की समस्या हल हुई। परन्तु मैं कुछ दिनों में ही उनके स्वभाव से

परिचित हो गया।

इन्हीं दिनों तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री शान्ता कुमार जी धर्मशाला आए हुए थे। वे अन्य वरिष्ठ अधिकारियों सहित अश्क जी से मिलने सदन पहुंच गए। अश्क जी को उनकी इच्छानुसार पूरी सुविधाएं प्राप्त नहीं हुईं थीं। मन में डर रहा कि वे कहीं उस बारे में मुख्यमंत्री महोदय से शिकायत न कर दें । जब तक मुख्यमंत्री वहां पर रहे, मैं भी वहीं आस-पास रहा। मन में विश्वास था कि अश्क जी के सामने रहने पर वे चुगली नहीं कर पाएंगे। इन्हीं दिनों सुलह का चमत्कारी पानी चर्चित हुआ। अश्क जी थम्स-अप पीकर डकार मारते थे जैसे दहाड़ रहे हों। उन्होंने सुलह के पानी की फर्माईश की जिसका दायित्व मुझे दिया गया। घंटों लाईन में लगकर अश्क जी के लिए दस लीटर की कैनी भरकर उनके हवाले की। फिर तो यह रूटीन बन गया। दूसरे-तीसरे दिन सुलह का पानी कैनी भरकर जैसे-तैसे उनकी सेवा में हाज़िर करना पड़ता।

अपनी तरफ से जहां मैं उन्हें इच्छानुसार रहते पूरी सुविधाएं अपनी सामर्थ्य और अकादमी के बजट अनुसार उपलब्ध करवाने के प्रयास कर रहा था वहां अश्क जी असंतुष्ट रहते। डी.एम. यानी जिलाधीश उनसे मिलने के लिए समय नहीं निकाल पा रहे थे, टेलीफोन नहीं लग पाया था, अन्य शिकायतों का लम्बा सिलसिला— टाईपिस्ट को तीन-चार पृष्ठ का डिक्टेशन देकर पत्र सीधे जिलाधीश की टेबल पर रखवा कर सांस ली। जिलाधीश ने पत्र मुझे थमाया और कहा — ''उन्हें संतुष्ट कीजिए।''

टेलीफोन लग जाने के बाद तो समस्याओं में और भी वृद्धि हुई। सुबह-शाम, समय-असमय टेलीफोन पर नित नए फरमान। उन्हीं दिनों अकादमी के सहयोग से दो बाल-नाट्य शिविर तथा एक नैशनल स्कूल आफ ड्रामा की ओर से थियेटर वर्कशाप कांगड़ा में चल रही थी। इसके अतिरिक्त पालमपुर में चाय उत्सव का आयोजन भी किया जा रहा था। अनेक विभागीय व्यस्तताओं के कारण दरबार में हर समय उपस्थित नहीं रहा जा सकता था। एक दिन सुबह छह बजे ही उनका फोन आया — ''हुजूर!82 वर्ष का बूढ़ा अर्ज़ कर रहा हूं। आपने तो यहां मुझे मरने के लिए छोड़ दिया है। परन्तु बहुत सख्त जान हूं अभी मरने वाला नहीं। एक तो मुझे कल से दांत में बहुत तकलीफ हो रही है किसी डाक्टर को यहां भिजवाइए तथा उसके बाद मैंने धर्मशाला कैंट जाना है जहां मैं पचास वर्ष पहले आया था, उस स्थान को पुन: देखना चाहता हूं अत: गाड़ी का प्रबन्ध कर दीजिए हुजूर।''

इन्हीं दिनों तत्कालीन जिलाधीश का तबादला हो गया। उनकी जगह दूसरे जिलाधीश आ गए। अभी उन्होंने कार्यभार ग्रहण ही किया था कि उन्हें अश्क जी ने अपनी समस्याओं के बारे में दो पत्र लिख डाले। प्रशासनिक व्यस्तताओं के कारण जिलाधीश महोदय उनसे नहीं मिल पाए। टेलीफोन पर अवश्य बात कर लेते। परन्तु अश्क जी संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने मुख्यमंत्री जी को पत्र भी लिखा, टेलीफोन भी किया तथा एक पत्र जिलाधीश को खूब लम्बा लिखा जिसमें उन्होंने यह भी लिखा कि ''मैंने तो धर्मवीर जैसे धाकड़ गवर्नर सीधे कर दिए हैं।'' कुछ दिनों के बाद जिलाधीश महोदय उनसे मिले तो वह बहुत संतुष्ट लगे। उसी समय सीधे लखनऊ फोन किया और घर में बताया ''अभी डी.एम. साहिब मुझसे मिलने आए थे। आते क्यों न, मैंने सख्त पत्र जो लिखा था।'' बीच-बीच में मौसम जरा खराब होता तो उन्हें सांस की तकलीफ होती। जैसे-तैसे डाक्टर को बुलाकर लाना पड़ता, खाने-पीने में कभी-कभी ज़्यादा ही बदपरहेज़ी करते।

ऐसे अनेकों प्रसंग हैं जिनमें उनके दैनिक व्यवहार की झलक मिलती है। परन्तु जो बात उनकी सबसे प्रभावित करने वाली थी वह थी लेखन के प्रति उनकी निष्ठा और कड़ी मेहनत। कई बार पूरे के पूरे पृष्ठ फाड़ डालते तथा दुबारा लिखवाते। टाईप करवाकर स्वयं पढ़कर गलतियां ठीक करते। जब चैप्टर पूरा हो जाता, तब प्रसन्न दिखते। कभी सांस की तकलीफ होती तो घबराते और कहते — ''अब यह उपन्यास शायद ही पूरा हो।'' ठीक होने पर पुन: काम में जुट जाते।

स्थानीय साहित्यकारों की गोष्ठियां भी आयोजित करवाईं। अनेक साहित्यकार अपनी पुस्तकें भी भेंट कर गए — परन्तु किसी के भी लेखन कार्य से संतुष्ट नहीं दिखे। कहते — ''ये लोग बिना मेहनत किए लेखक बनना चाहते हैं।'' अश्क जी ने स्वयं विभिन्न ग्रंथों का गहन अध्ययन करके पुस्तकें लिखीं। अपने पात्रों में सजीवता लाने के लिए उन स्थानों का भ्रमण भी किया। एक बार तो पाकिस्तान की यात्रा भी इस सिलसिले में की। उनके लिए ऐसा बंधन नहीं था कि सुबह-शाम ही लेखन कार्य करना है बल्कि वे जब चाहते, आराम करते, घूम-फिर लेते और फिर लेखन कार्य में जुट जाते। कभी कोई मिलने आता और इनका मूड न हो तो मेरे पास भेज देते और कहते कि पहले मुझसे समय निर्धारित करवाकर फिर मिलने भेजा करें। कभी मूड होता तो घंटों अपरिचित व्यक्ति से बतियाते रहते। हरियाणा और पंजाब से अपने मित्रों को भी यहां बुलवा भेजा। अश्क जी कहते — मैं बड़ा ज़िद्दी आदमी हूं जो काम सोचता हूं, करके हटता हूं। पालमपुर में चाय उत्सव के दौरान महामहिम राष्ट्रपति को पुस्तकें भेंट करके आए साथ ही उनके सचिव को पत्र भी थमा दिया। कई दिनों तक देश के विभिन्न साहित्यकारों से टेलीफोन पर बातें करते संभवत: राज्यसभा का सदस्य मनोनीत करवाने के प्रयास में। बरसात नज़दीक आ रही थी, अश्क जी का उपन्यास पूरा नहीं हो पा रहा था न ही लखनऊ जाने का कार्यक्रम तय हो पा रहा था। सुलह का पानी उन्हें अच्छा लग रहा था। अपने मिलने वालों से वे इसका जिक्र अवश्य करते। अपने प्रवास के दौरान धर्मशाला के उन सभी स्थानों पर गए जहां वे पचास वर्ष पहले आए थे। उनकी फोटोजनिक याद्दाश्त में धर्मशाला कैंट के राणा रघुवीर सिंह जी ने और वृद्धि करने में सहयोग दिया। उस समय के कुछ व्यक्तियों के नाम भी उन्हें याद थे जो पहली यात्रा के दौरान उन्हें मिले परन्तु अब वे स्वर्गवासी हो चुके थे।

अश्क जी कहते थे कि मैंने जो भोगा है, तथा जो देखा है वही मेरी कृतियों में है। मैंने यह सारा ताना-बाना बुनने में अथक मेहनत की है।

ज़िला भाषाधिकारी,
कांगड़ा, हि.प्र.

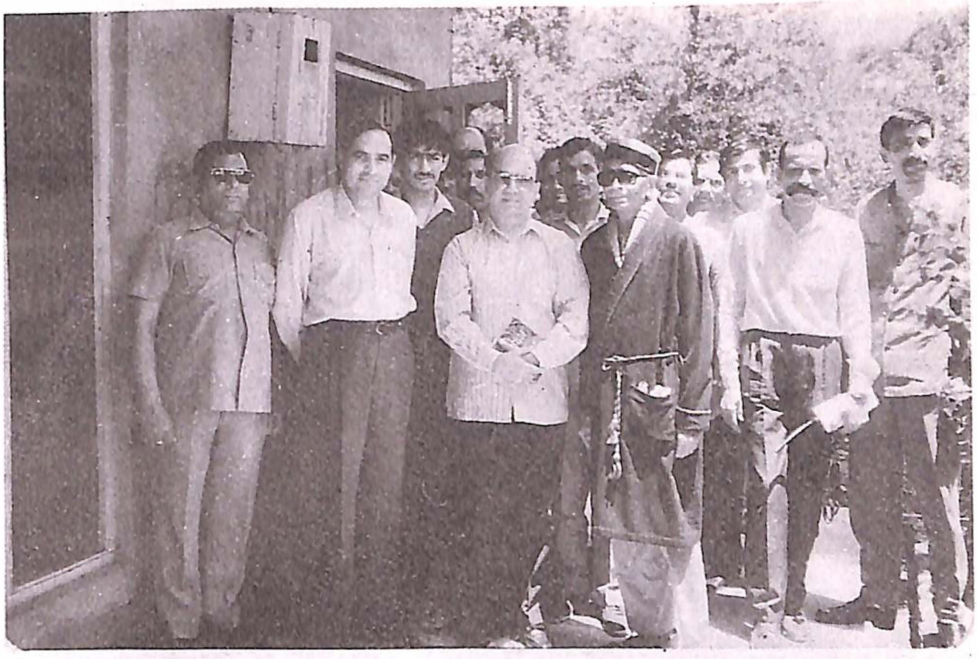

अकादमी के लेखकगृह धर्मशाला में अश्क जी के साथ श्री शांता कुमार (तत्कालीन मुख्यमंत्री हि॰ प्र॰ एवं अध्यक्ष हिमाचल अकादमी) और सुदर्शन वशिष्ठ (अकादमी सचिव)

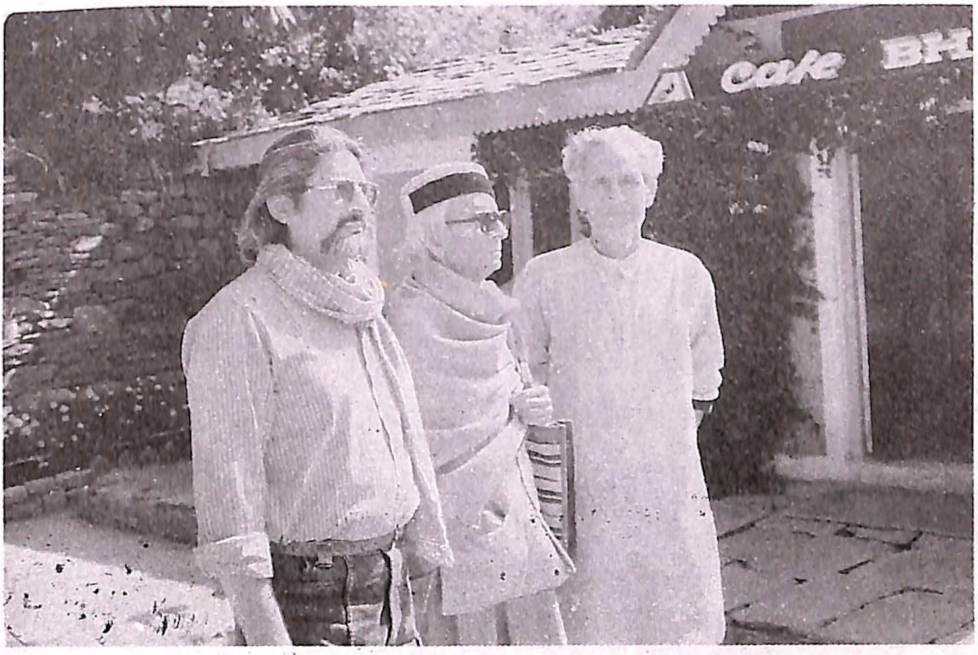

अश्क जी नीलाभ और बल्लभ डोभाल के साथ भागसू में

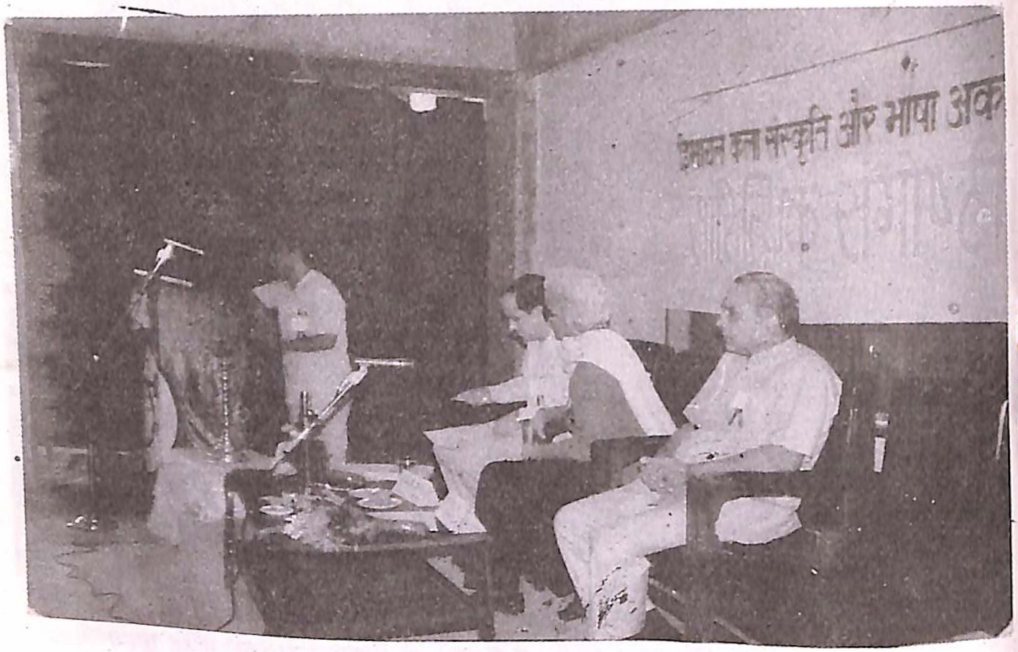

पालमपुर संगोष्ठी में

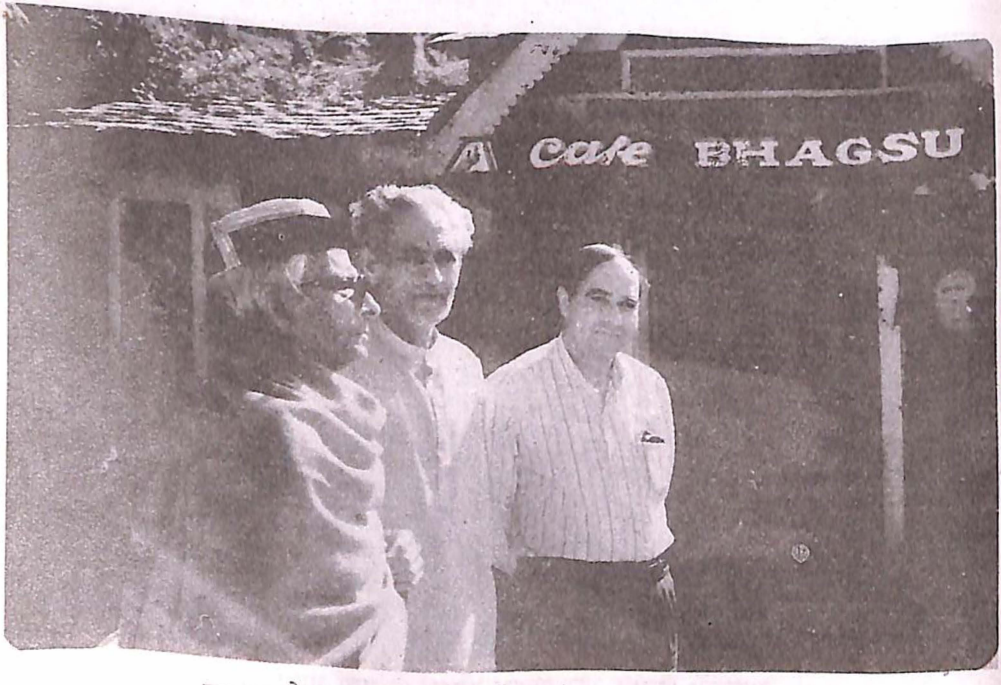

बल्लभ डोभाल तथा सुदर्शन वशिष्ठ के साथ भागसू (धर्मशाला) में

डलहौजी का वह मकान जहां अश्क जी ने 'टेरता पाखी' कविता लिखी

शिमला में अकादमी सचिव सुदर्शन वशिष्ठ के साथ

G-5727
02/08/17

यह कारण है क्यों आज होल-टाईम लेखक नहीं है। जैनेन्द्र, शिवपूजन सहाय, अश्क, यशपाल, विष्णु प्रभाकर सभी होल टाईम। प्रेमचन्द्र तो होल टाईम थे ही। इलाहाबाद में लगभग 20 लेखक जिन में अज्ञेय, बच्चन, वर्मा, नागर, ...सभी होल टाईम। आज लेखक की हालत चिन्ताजनक है। मैं क्या कर सकता हूं। मैं तो लेखक हूं। लेखक ऐसा तो नहीं कर सकता कि बटन दबाया और चारों ओर रोशनी हो जाए। पहले कोई पढ़ेगा, उसे समोयेगा। मन बदलेगा, दिमाग बदलेगा फिर समाज बदलेगा। इस देश में साहित्यकार बस जी रहा है, यही बहुत है।

अश्क

किसी साहित्यकार को करीब से देखने का अवसर मिलना एक सौभाग्य की बात होती है। यदि कुछ अंतरंग बांटने का मौका मिले तो और भी अच्छा है। अश्क जी से मुलाकात, उनके करीब रहना ऐसे ही एक समागम का अवसर रहा है। साहित्य का यह टेरता पाखी अपने अंतिम समय में हिमाचल प्रदे
अपना अंतिम उपन्यास 'धौलाधार की छ
पुरानी यादें ताज़ा कीं। चीलों की हवा
फुदकते इस टेरते पाखी के लिए ये संस्म

Library IIAS, Shimla
H 818 V 442 T
G 5727

सुदर्शन वशिष्ठ

हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी